भारतीय ग्रन्थमाला-संख्या १९

कौटल्य के आर्थिक विचार

(भारतीय हिन्दी अर्थशास्त्र-परिषद् द्वारा सम्पादित)

लेखक

जगनलाल गुप्त
और
भगवानदास केला

प्रकाशक

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला, बृन्दाबन

दूसरा संस्करण] सन् १९४१ ई० [मूल्य चौदह आना

प्रकाशक—

श्री भगवानदास केला

व्यवस्थापक, भारतीय ग्रन्थमाला

वृन्दाबन

मुद्रक—

नारायण प्रसाद

नारायण प्रेस,

नारायण बिल्डिंग्स,

प्रयाग।



स्वर्गीय पंडित बलराम जी दुबे

स्वर्गीय पंडित बलराम जी दुबे

की

पवित्र स्मृति में

निवेदन

कुछ समय से हिन्दी के अर्थशास्त्र-साहित्य की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा है। कुछ अच्छी-अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। यह हर्ष का विषय है। आवश्यकता है कि हम अपने प्राचीन अर्थ-साहित्य से भी यथेष्ट परिचय प्राप्त करते रहें। हमारे प्राचीन (संस्कृत के) अर्थशास्त्रों में कौटलीय अर्थशास्त्र का स्थान बहुत गौरव-पूर्ण है, परन्तु इसकी शैली ऐसी गूढ़ और पाण्डित्यपूर्ण है कि इसे अनुवाद रूप में भी अविकल पढ़ने में सहसा मन नहीं लगता। साधारण योग्यतावाले अधिकांश पाठक इससे समुचित लाभ नहीं उठा सकते। इस अभाव की थोड़ी-बहुत पूर्ति करने के लिए यह छोटीसी पुस्तक हिन्दी संसार की सेवा में उपस्थित की जाती है। मूल ग्रन्थ में समाजशास्त्र की कई शाखाओं, एवं कुछ अन्य विषयों के भी ज्ञान का अथाह समुद्र भरा हुआ है, हमने इस पुस्तक में आचार्य कौटल्य के केवल आर्थिक विचार लिये हैं, और उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय और वितरण सम्बन्धी विचारों पर ही प्रकाश डाला है। पहले हमारी इच्छा थी कि इस पुस्तक में आचार्य कौटल्य के राजस्व सम्बन्धी विचार भी दिये जायँ। परन्तु अब हमारी 'कौटल्य की शासनपद्धति' पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हो गयी है, और उसमें इस विषय का भी विवेचन किया गया है; इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में उसे देने की आवश्यकता न रही। हमने इस पुस्तक का क्रम अर्थात् विषयों का वर्गीकरण आधुनिक पद्धति पर किया है, जिससे वर्तमान शिक्षा-संस्थाओं के विद्यार्थी और शिक्षकों को इसे पढ़ने, तथा प्राचीन विचारों की आधुनिक विचारों से तुलना करने में सुविधा हो।

यद्यपि जिन विचारों पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है, वे प्राचीनकाल के हैं, और अब परिस्थिति बहुत बदली हुई है, तथापि भारतवासी इस पुस्तक से बहुत लाभ उठा सकते हैं। कुछ बातों की तो अन्य देशवासियों के लिए भी बहुत उपयोगिता है। आजकल आर्थिक उन्नति की बड़ी चर्चा है, विविध राज्यों में धन-वृद्धि के नित्य नये प्रयत्न किये जा रहे हैं, फिर भी जन-समुदाय की सुख-शान्ति दुर्लभ हो रही है। प्राचीनकाल में आचार्य कौटल्य जैसे अर्थशास्त्रियों के उद्योग से, समाज में संतोष, पारस्परिक सहानुभूति और सेवा-भाव आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक था। इस दृष्टि से आधुनिक समाज-सूत्रधारों को उस समय की दशा ईर्षाजनक हो सकती है।

इस रचना के प्रथम संस्करण के लिए मूल प्रेरणा हमें मित्रवर श्री० प्रोफेसर दयाशंकरजी दुबे की ओर से हुई थी, और श्री० जगनलाल जी गुप्त ने विचार-विनिमय आदि द्वारा हमें बहुमूल्य सहायता प्रदान की थी। वर्तमान परिस्थिति में, इसके दूसरे संस्करण के प्रकाशित करने के लिए मन में उत्साह नहीं था। पर अन्ततः श्री० दुबे जी के अनुरोध से हमने यही उचित समझा कि ग्रन्थमाला की इस पुस्तक को मरने न दिया जाय। निदान, आवश्यक संशोधन करके इसे प्रकाशित करने का साहस किया जा रहा है। क्या हम आशा करें कि इस विषय के कुछ प्रेमी पाठक अपने क्षेत्र में इसका सम्यक् प्रचार करेंगे!

विनीत

भगवानदास केला

आवश्यक सूचनाएँ

(१) हमने इस पुस्तक का नाम 'कौटल्य के आर्थिक विचार' रखा है, और इसमें जहाँ-तहाँ 'कौटल्य' शब्द का ही प्रयोग किया है। यद्यपि व्यवहार में प्रायः 'कौटिल्य' अधिक प्रचलित है, पर वास्तव में 'कौटल्य' अधिक शुद्ध है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार प्रस्तावना में किया गया है।

(२) 'आर्थिक विचार' में 'आर्थिक' शब्द आधुनिक साम्पत्तिक (Economic) अर्थ में लिया गया है। कौटल्य के विचार से 'आर्थिक' शब्द का अभिप्राय बहुत व्यापक है। इसका परिचय पाठकों को अन्यत्र मिलेगा।

(३) इस पुस्तक में साधारणतया 'आचार्य' से अभिप्राय आचार्य कौटल्य का, और 'अर्थशास्त्र' से अभिप्राय कौटलीय अर्थशास्त्र का है।

(४) इस पुस्तक में अर्थशास्त्र का हवाला देते हुए जहाँ अंकों का प्रयोग हुआ है, वहाँ पहला अंक अधिकरण का सूचक है; दूसरा, अध्याय का; और तीसरा सूत्र का।

सहायक पुस्तकें

कौटलीय अर्थशास्त्र—हिन्दी अनुवादक, उदयवीर शास्त्री

,, ,, ,, प्राणनाथ विद्यालंकार

,, अंगरेजी ,, शामशास्त्री

मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन—अनुवादक, रामचन्द्र शुक्ल

भारतीय अर्थशास्त्र—भगवानदास केला

मौर्य साम्राज्य का इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—अनुवादक, कन्नोमल एम० ए०

Hindu Polity—K. P. Jayaswal, M. A.

Kautilya—N. C. Bandyopadhyaya

The Early History of India—V. A. Smith ?

भूमिका

संस्कृत साहित्य में अर्थशास्त्र के विषय पर इस समय विशेषतया दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें से कौटल्य का अर्थशास्त्र मुख्य है। इस ग्रन्थ का हिन्दी और अंगरेजी में भी अनुवाद होगया है।

प्राचीन समय में अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उन विषयों का भी समावेश किया जाता था, जो आजकल राजनीति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसलिए कौटल्य के अर्थशास्त्र में भी राजनीति का पूरा समावेश है। इस ग्रन्थ में अर्थशास्त्र के विषयों का विवेचन उस क्रम से नहीं किया गया है, जिस क्रम से कि वर्तमान काल में अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में किया जाता है। इसलिए जब तक कौटल्य के अर्थशास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन न किया जाय, तब तक उस के आर्थिक विचारों का सुगमता पूर्वक पता नहीं लगता। इस ग्रन्थ की लेखन-प्रणाली भी ऐसी है कि सब से उत्तम हिन्दी अनुवाद के पढ़ने से भी विषय आसानी से समझ में नहीं आता। मैंने स्वयं श्री० उदयवीर शास्त्री के हिन्दी अनुवाद को कई बार पढ़ने का प्रयत्न किया परन्तु मैं उसे एक बार भी अन्त तक न पढ़ सका, न मुझे कौटल्य के आर्थिक विचारों का पूरा ज्ञान ही हो सका। तब मैंने यह सोचा कि यदि कौटल्य के आर्थिक विचार किसी एक पुस्तक में उस क्रम से सरल भाषा में दे दिये जायँ, जिस क्रम से कि वे आजकल अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों में दिये रहते हैं तो हिन्दी-प्रेमी जनता को उनके समझने में भी आसानी होगी, और कौटल्य के आर्थिक विचारों का जनता में प्रचार भी हो सकेगा।

जब मैंने इस विचार को, अपने मित्र श्रीयुत भगवानदास जी केला के सामने उपस्थित किया तो उन्होंने इस प्रकार की पुस्तक तैयार करना सहर्ष स्वीकार कर लिया। श्रीयुत केला जी को इस कार्य में इस विषय के विशेषज्ञ श्रीयुत जगनलाल जी गुप्त का सहयोग प्राप्त हो गया, इससे यह कार्य और भी अच्छी तरह सम्पादित हो गया।

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि इसका पहला संस्करण अब समाप्त होगया है। दूसरा संस्करण प्रायः उसी रूप में, आवश्यक संशोधनों सहित प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा के अर्थशास्त्र विषय के पाठ्यग्रंथों की सूची में इसे स्थान मिल गया है। यदि अन्य शिक्षा संस्थाएँ इस पुस्तक को अपने पाठ्य क्रम में स्थान देने की कृपा करेंगी तो विद्यार्थियों को भारतवर्ष के एक सुप्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्री के विचारों से परिचित होने का अवसर मिल जायगा। आशा है, हिन्दी-प्रेमी सज्जन इस रचना का उचित आदर करेंगे।

श्री दुबे निवास
दारागंज, प्रयाग
१ सितम्बर १९४१

दयाशंकर दुबे
एम० ए०, एल-एल० बी०
अर्थशास्त्र अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१—	(१) आचार्य कौटल्य	१
	(२) कौटल्य का अर्थशास्त्र	११
२—	अर्थशास्त्र का विषय	१९
३—	अर्थ या धन	२४
४—	उपभोग के पदार्थ	२८
५—	रहन-सहन और आचार व्यवहार	३३
६—	नगर और ग्राम	३६
७—	दुरुपभोग का नियंत्रण	४०
८—	धनोत्पत्ति के साधन	४७
९—	भूमि	५०
१०—	श्रम या जनता	६३
११—	पूँजी	७८
१२—	व्यवस्था	८६
१३—	खेती और व्यवसाय-धन्धे	९०
१४—	मुद्रा	१०१

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१५—	कीमत	१०७
१६—	व्यापार के मार्ग और साधन	१११
१७—	देशी व्यापार	११९
१८—	विदेशी व्यापार	१२५
१९—	भू-कर	१३१
२०—	वेतन	१३७
२१ —	सूद	१४१
२२—	मुनाफा	१४५
२३—	धन वितरण और समाज	१४८

पहला अध्याय

प्रस्तावना

(१) आचार्य कौटल्य

इस पुस्तक में सुप्रसिद्ध प्राचीन अर्थशास्त्र-प्रणेता आचार्य कौटल्य के आर्थिक विचारों का विवेचन है। अतः इसके पाठकों को आचार्य का परिचय प्राप्त करने की स्वभावतः इच्छा होगी, और यह परिचय प्राप्त करना उपयोगी भी होगा। इस विचार से यहाँ संक्षेप में, आचार्य के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है।

आचार्य ने अपनी योग्यता, तेजस्विता, रचना-कौशल और बुद्धि-प्रखरता आदि से जर्मन, फ्रांसीसी आदि पाश्चात्य विद्वानों को चकित कर दिया है, और उनकी दृष्टि में भारत का प्राचीन गौरव बढ़ाया है। उसके अर्थशास्त्र के उपलब्ध हो जाने से इस बात का जीवित जाग्रत प्रमाण मिल गया है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व जबकि अनेक आधुनिक राष्ट्रों का जन्म भी नहीं हुआ था, भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृति की, तथा राजनैतिक और आर्थिक उन्नति की घोषणा कर रहा था।

अवश्य ही यह खेद का विषय है कि भारत का मस्तक ऊँचा करने-वाले ऐसे महान आचार्य का कोई प्रामाणिक जीवनचरित्र नहीं मिलता। उनके जीवन सम्बन्धी कई घटनाएँ बहुत संदिग्ध और विवादग्रस्त

हैं। कितनी ही दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। प्राचीन भारतीय विद्वानों की भांति स्वयं उन्होंने अपने विषय में कुछ विशेष प्रकाश नहीं डाला। पुरातन रचना-शैली के अनुसार अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर केवल उनके नाम का ही उल्लेख मिलता है। दो-एक स्थानों में प्रयुक्त वाक्यों से इतना और मालूम हो जाता है कि आचार्य ने महाराज चन्द्रगुप्त को राज्य दिलाने का सफल प्रयत्न किया। उन्होंने उस राज्य की सुख समृद्धि तथा विस्तार की भी यथेष्ट व्यवस्था की। इसी विचार से उन्होंने यह महान ग्रन्थ तैयार किया। इस चिरस्मरणीय विभूति की जीवन-लीला के सम्बन्ध में इससे अधिक और कोई बात अर्थशास्त्र से ज्ञात नहीं होती. और इसके चरित्र लेखकों को प्रायः अन्धकार में टटोलना पड़ता है। और तो और, स्वयं आचार्य का नाम भी बहुत संदिग्ध है।

आचार्य के नाम—बहुतसे लेखकों ने अपनी रचनाओं में आचार्य के कई-कई नामों का उल्लेख किया है। इस प्रकार कौटल्य, विष्णुगुप्त, पक्षिल, वात्सायन, चाणक्य, ज्योतिर्विद विष्णुगुप्त आदि नामों से जिन-जिन व्यक्तियों का आशय लिया जाता है, वे सब एक ही माने जाते हैं। श्री० जयदेव शर्मा लिखते हैं कि 'अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य ने आर्य विद्याओं पर भाष्य रचकर उनका उद्धार करके महान पुण्य-राशि का लाभ किया है। यही ग्रन्थकार कामसूत्र बनाने के समय वात्सायन, न्याय भाष्य करते हुए पक्षिल स्वामी, तथा अर्थशास्त्र बनाते हुए कौटल्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ है'*। इस सम्बन्ध में हम अपना मत संक्षेप में आगे देते हैं।

---

*'स्वार्थ' वर्ष १, पूर्णांक ९; श्री शर्मा जी का तो यह भी कथन है कि 'धर्म, अर्थ, काम पर इस आचार्य ने क्रम से न्यायभाष्य, अर्थशास्त्र, और कामशास्त्र का निर्म्माण किया है तो नितरां मोक्षशास्त्र वेदान्त पर भी इसने कोई भाष्य या कृति अवश्य बनायी होगी।'

विष्णुगुप्त और कौटल्य—अर्थशास्त्र में जहां-जहां आचार्य को अपना मत स्पष्ट रूप से देना हुआ है उसने 'कौटल्य का यह मत है' (इति कौटल्यः) कहा है। इससे कुछ पाठक यह अनुमान करते हैं कि यह ग्रन्थ स्वयं आचार्य का बनाया हुआ नहीं है, वरन् उसके शिष्यों में से किसी ने बनाया है। यह अनुमान ठीक नहीं है, कारण कि अनेक प्राचीन लेखकों की यही शैली रही है कि अपना मत अपने नाम से ही दर्शाया जाय। हिन्दी के अनेक दोहों और कुंडलियों में उनके रचयिता का नाम आता है। फिर उस समय तो इसमें सन्देह करने का कोई स्थान ही नहीं रहता, जब हम यह देखते हैं कि 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अन्तिम श्लोक में, तथा द्वितीय अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में भी इसके ग्रन्थकर्ता का उल्लेख 'कौटल्य' के नाम से ही हुआ है। हाँ, ग्रन्थ की समाप्ति पर विष्णुगुप्त नाम भी दिया गया है। नीतिसार के रचयिता तथा कामन्दक नीतिसार के लेखक ने आचार्य के लिए 'विष्णुगुप्त' नाम का ही प्रयोग किया है। कौटल्य नाम के विषय में कहा जाता है कि यह आचार्य का गोत्रज नाम है। वह 'कुटल' गोत्रीय था। सम्भव है, इसीलिए आचार्य ने अपने लिए इस सामान्य नाम का अधिक व्यवहार किया है। यह बता सकना कठिन है कि इस गोत्रवाले इस समय भारतवर्ष के किस भाग में पाये जाते हैं।

अस्तु, धीरे-धीरे आचार्य के 'विष्णुगुप्त' नाम का प्रचार घट गया और 'कौटल्य' ही व्यवहार में आने लगा। अर्थशास्त्रज्ञों को छोड़कर अन्य इतिहासज्ञ, पुराणकार, टीकाकार, नाटककार, आदि ग्रन्थ लेखक भी, जो आचार्य से बहुत काल पीछे नहीं हुए, इसी नाम का प्रयोग करने लगे। 'मुद्राराक्षस' के रचयिता कविवर विशाखदत्त जी जैसे इने-गिने विशेषज्ञों के सिवाय और सब लेखक आचार्य के विष्णुगुप्त

नाम को भूल गये। श्री० विशाखदत्त जी ने विष्णुगुप्त के पिता का नाम शिवगुप्त लिखा है।

चाणक्य—आचार्य ने अपने आपको, अथवा इसके निकटवर्ती लेखकों ने उसे चाणक्य नहीं कहा; यद्यपि प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य में यह नाम भी कौटल्य का ही सिद्ध करनेवाले अनेक उद्धरण मिलते हैं। ऐसा अनुमान होता है कि जब कुछ विद्वानों की भूल से 'विष्णुगुप्त' या कौटल्य को 'कौटिल्य' लिखा और पढ़ा जाने लगा तो इसी शब्द के लगभग समानार्थी 'चाणक्य' नाम की सृष्टि हुई। फिर तो अनुमान करनेवालों की सूझ-बूझ ने इस दिशा में और भी प्रगति की। कुछ लोगों ने सोचा कि चाणक्य का अर्थ है, चणक की संतान, अतः जब आचार्य का नाम चाणक्य है, तो उसके पिता का नाम चणक होगा। क्रमशः आचार्य के और भी कई नाम प्रचलित होगये, यथा मल्लनाग, अंगुल, द्रामिल, वयणक आदि।

आचार्य के इन विविध नामों की यथार्थता का निर्णय करना एक स्वतंत्र वाद-विवाद का विषय है, हम विस्तार-भय से यहाँ उसका विचार नहीं करते। अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर हमें कौटल्य नाम के विषय में कोई सन्देह नहीं है।

कौटल्य का समय—कौटल्य के समय के विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि वे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री और उनके पूर्वज नन्द के समकालीन थे। इस बात के प्रमाण इसी ग्रन्थ में हैं। विष्णु-पुराण आदि के ग्रन्थकारों ने कौटलीय अर्थशास्त्र के उद्धरण दिये हैं, उससे भी यही सिद्ध होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि यह ग्रन्थ ईसा की तीसरी या चौथी शताब्दी का है और इसकी रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा न होकर कई व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में हुई। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वे अर्थशास्त्र में

वर्णित, राजनीति, युद्ध-नीति, अर्थ-नीति, धातु-विज्ञान आदि के विवेचन को देखकर चकित हैं, उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि भारतवर्ष में ये विद्याएँ ऐसे प्राचीन काल में इतनी उन्नत हो गयी हों जबकि संसार के अन्य देश अधिकांश में अन्धकारमय जीवन व्यतीत कर रहे थे। परन्तु अन्य विद्वानों ने इसका यथेष्ट खंडन किया है और यह सिद्ध किया है कि वास्तव में इस ग्रन्थ की रचना ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में हुई थी, चन्द्रगुप्त का शासन-काल ई० पू० सन् ३२२ से ई० पू० २९८ तक स्वीकार किया जाता है।

कौटल्य और मेगस्थनीज़—कौटल्य और मेगस्थनीज़ प्रायः समकालीन माने जाते हैं, और यह मत इतना प्रचलित हो गया है कि अब चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में विचार करनेवाला हर एक लेखक उक्त दोनों के ही ग्रन्थों के आधार पर अपना वक्तव्य उपस्थित करने लग गया है। तथापि यह विषय ऐसा नहीं है कि इसमें किसी प्रकार का सन्देह हो न हो। हमें यहाँ इसका विवेचन न कर केवल इसका दिग्दर्शन कराना ही अभीष्ट है। जैसा कि श्री चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने लिखा है,* यूनानी साहित्य में भारतवर्ष के सम्बन्ध में पालीबोथ्रा और सेंड्राकोटस आदि कुछ नाम तथा इनके वर्णन उपलब्ध हैं। सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय पुरातत्व के विद्वान बड़े प्रयत्न से इन नामों की संगति भारतीय इतिहास में लगाने की चेष्टा करते रहे। अन्त में सन् १७९३ ई० में रायल एशियाटिक सोसाइटी के प्रधान सर विलयम जोन्स ने यह प्रतिपादन किया कि 'पालीबोथ्रा' भारतवर्ष का 'पाटलीपुत्र' नगर है, और 'सेंड्राकोटस' चन्द्रगुप्त का अपभ्रंश है, जिसने नन्द वंश का नाश करके मौर्य वंश की स्थापना की। यह बात भारतीय तिथि-क्रम की आधारशिला के रूप में स्वीकार की गयी। इससे यह सिद्ध हो गया कि

---

* माधुरी वर्ष ८, खंड २, संख्या १०

महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य सन् ३२२ ई० पू० में मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। मेगस्थनीज़ उनके दरबार में यूनानी राजदूत था। उसने अपने भारत-निवास के संस्मरण विस्तारपूर्वक लिखे थे, जिनमें से अब ६१ खंड अपूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं।

आचार्य कौटल्य मौर्य साम्राज्य के स्थापन में मुख्य सहायक, तथा सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रधान अमात्य थे। अतः यह निर्विवाद है कि उन्होंने आदर्श के तौर से जिस शासन-विधि का वर्णन अपने अर्थशास्त्र में किया है, वह पद्धति कम-से-कम उनके समय में अवश्य प्रचलित रही होगी।

अनेक विद्वानों को यह देखकर अत्यधिक आश्चर्य होता है कि मेगस्थनीज़ के भारत-वर्णन में कहीं भी आचार्य कौटल्य का नाम तक उपलब्ध नहीं होता,* तथा एक ही सम्बन्ध के कतिपय वर्णनों में कौटल्य और मेगस्थनीज़ के लेख में बड़ा भेद है। इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकल सकते हैं:—

(१) अर्थशास्त्र का लेखक और मेगस्थनीज़ समकालीन नहीं थे, उनके समय में पर्याप्त अन्तर रहा है। या

(२) मेगस्थनीज़ ने जिस सैंड्राकोटस का उल्लेख तथा वर्णन किया है, वह चन्द्रगुप्त मौर्य न था, जिसका कि कौटल्य प्रधान मंत्री रहा, वरन् समुद्रगुप्त आदि कोई अन्य राजा होगा। या

(३) यदि मेगस्थनीज और कौटल्य समकालीन ही थे तो अर्थशास्त्र का लेखक, कौटल्य से भिन्न, कोई अन्य व्यक्ति (या व्यक्ति-समूह) होगा,

---

* मेगस्थनीज को कौटल्य का साक्षात् परिचय न होना आश्चर्यजनक या असम्भव नहीं। कभी-कभी राजसत्ता के प्रधान सूत्रधार स्वयं शासक के रूप में रंगभूमि पर नहीं आते, प्रत्युत अपनी निश्चित नीति का, परामर्श आदि के द्वारा, उपयोग करा लेते हैं। शायद ऐसे ही कारण से मेगस्थनीज कौटल्य जैसे महान व्यक्ति को न जान सका हो, जो पर्दे के पीछे अमात्य के रूप में, राज्य का नियंत्रण कर रहा था।

जिसने कौटल्य के नाम से इस ग्रन्थ की रचना की, और जिसका समय उक्त दोनों व्यक्तियों के समय से भिन्न था।

जिस आधार पर ये निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वह हमें कुछ दृढ़ नहीं मालूम होते। प्रथम तो मेगस्थनीज़ का पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; दूसरे जिन बातों के वर्णन में कुछ पाठकों को भेद मालूम होता है, उनमें अन्य विद्वान पूर्वापर ग्रन्थों की साक्षियों के विवेचन से संगति मिलाने में समर्थ हो जाते हैं, उन्हें कोई विशेष तात्विक या मौलिक भेद ज्ञात नहीं होता।* अस्तु, विविध उपलब्ध प्रमाणों से हमें इसमें सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि 'अर्थशास्त्र' का रचयिता कौटल्य (विष्णुगुप्त) उपनाम चाणक्य ही था। हां, मेगस्थनीज उसका समकालीन था या नहीं, और मेगस्थनीज का 'सेंड्राकोटस' वास्तव में चन्द्रगुप्त मौर्य था या समुद्रगुप्त आदि कोई अन्य राजा, इस विषय में पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा अनुसंधान किये जाने की गुंजायश हो सकती है।

कौटल्य का जन्म और शिक्षा—बौद्ध ग्रन्थों तथा कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि आचार्य की जन्मभूमि तक्षशिला थी, और उसने संसार प्रसिद्ध नालन्द के विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी थी। कविवर विशाखदत्त जी के लिखने से मालूम होता है कि नगर (पाटलीपुत्र) में आने से पूर्व कौटल्य नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि लोकोपयोगी विविध विद्याएँ पढ़ चुका था। वह दृढ़ता, साहस और धैर्य आदि सद्गुणों की भी समुचित शिक्षा पा चुका था।

मगध में आगमन—उन दिनों मगध के महाराज महानन्द या महापद्मानन्द का प्रताप-सूर्य मध्यान्ह में था। उसकी राजधानी पाटलीपुत्र

---

*श्री० गोपाल दामोदर तामस्कर जी का मत है कि यह सम्भव है कि कौटल्य ने अपना ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के शासन के नितान्त प्रारम्भ काल में लिखा हो, और मेगस्थनीज ने उसके पीछे की, विकसित अवस्था का वर्णन किया हो।

या कुसुमपुर के वैभव की सर्वत्र धूम थी। सम्भवतः अपनी विद्या और बुद्धि का प्रकाश दिखाने और राजाश्रय पाने के लिए कौटल्य वहाँ आया। वहाँ नन्द के मंत्री शकटार या शकटाल से उसकी भेंट हुई, उसने उसकी राजनैतिक योग्यता और रसायन, वैद्यक आदि के लोकोपयोगी ज्ञान को शीघ्र परख लिया। महानन्द से अपमानित होने के कारण वह उससे बदला लेने का इच्छुक था, इसलिए उसने प्रखर-बुद्धि कौटल्य से मित्रता करना ठीक समझा। कौटल्य भी राजमंत्री जैसे उच्चाधिकारी को मित्र बनाकर बहुत प्रसन्न हुआ, और वह उसका हितैषी सखा हो गया।

शकटार ने शीघ्र ही यह विचार किया कि यदि कौटल्य की पहुँच दरबार तक होगयी, और इसने महाराज की कृपा-दृष्टि प्राप्त करली, तो उस दशा में मेरा महाराज से बदला लेनेका उद्देश्य पूरा न हो सकेगा। इसलिए उसने उसे किसी प्रसंग* पर महाराज से कड़ी फटकार दिला दी। तेजस्वी कौटल्य धन-वैभवोन्मत्त महानन्द द्वारा किये गये अपमान से बहुत क्रुद्ध हुआ, इस पर शकटार ने उसे और भी भड़काया। फलतः कौटल्य ने महानन्द के नाश करने की प्रसिद्ध प्रतिज्ञा की।

चन्द्रगुप्त से मेल और नन्दों का नाश—उस समय भ्रातृ द्वेष तथा राजनैतिक कारणों से चन्द्रगुप्त को पितृराज्य मगध से भागना पड़ा। वह युवराज पद का अधिकारी होने के अतिरिक्त अत्यन्त साहसी चतुर और योग्य था। उसका कौटल्य से मेल होजाना स्वाभाविक था। ये दोनों तक्षशिला की ओर गये। उन दिनों सिकन्दर अपनी सेना सहित वहाँ था। उससे इनकी भेंट हुई। पर उसकी सेना के भयभीत

*स्व० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने इस प्रसंग का जो वर्णन, मुद्राराक्षस नाटक के अनुवाद में किया है, उसे पाठक अच्छी तरह जानते होंगे; अतः यहाँ देने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। यह स्पष्ट है कि भोजन-निमंत्रण में अपमान का वह वर्णन जैसा नाटकोचित है, वैसा प्रामाणिक तथा इतिहास-योग्य नहीं है।

हो जाने के कारण वह इन्हें महानन्द के विरुद्ध कुछ सहायता न दे सका। अन्ततः पश्चिमोत्तर प्रान्तों के कई पहाड़ी राजाओं से मेल करके ये कुसुमपुर पर चढ़े। अन्त में नन्द मारे गये* और कुसुमपुर पर कौटल्य और चन्द्रगुप्त का राज्य हो गया।

शान्ति स्थापना—राज्याधिकार प्राप्त करलेने के पीछे भी कौटल्य को विजित राज्य में शान्ति स्थापित करने में बड़ी कठिनाई पड़ी होगी, और वह महानन्द के मंत्री राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने में कई वर्ष प्रयत्न करने के पश्चात् सफल हुआ होगा। अर्थशास्त्र के प्रकरण १७६ में ऐसे उपायों का सविस्तर वर्णन किया गया है, और मुद्राराक्षस का अन्तिम भाग पढ़ने से मालूम होता है कि कौटल्य को प्रायः वे सब ही उपाय बरतने पड़े थे।

सिल्यूकस की पराजय—राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने के पश्चात् कौटल्य ने यूनानियों को भारतवर्ष से निकालने की ओर ध्यान दिया। सिल्यूकस ने महानन्द और चन्द्रगुप्त के युद्ध का समाचार सुनने पर अपना अधिकार पंजाब तक बढ़ा लिया था। अब चन्द्रगुप्त की विजय से वह न केवल पंजाब से ही हटाया गया, वरन् अफगानिस्थान, बिलोचिस्थान, और उससे भी आगे का कुछ भाग उससे छीनकर मौर्य साम्राज्य में मिला लिया गया। सिल्यूकस ने अपनी कन्या हेलना का विवाह चन्द्रगुप्त से किया और अपना दूत प्रतिभू (जामिन) की तरह चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा।

कौटल्य का रहन-सहन—जान पड़ता है कि कौटल्य का शेष जीवन शान्त और गम्भीर मंत्री या महामंत्री का जीवन था। यद्यपि वह बड़ा

*महानन्द और उसके पुत्रों के मारे जाने के विषय में कई प्रकार की अद्भुत और आश्चर्यजनक गाथाएँ प्रचलित हैं। परन्तु वास्तविक बात यह होगी कि ये लोग युद्ध में उन उपायों द्वारा मारे गये, जिनका उल्लेख कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र के प्रकरण १६४ से १७६ तक किया है।

विद्वान और प्रभावशाली था, स्वयं चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाने वाला था किन्तु उसके जीवन में राजकीय शान-शौकत का अभाव था। मुद्राराक्षस से मालूम होता है कि वह अपने आश्रम में एक सामान्य गृहस्थ या वानप्रस्थ की भांति रहता था। अनुमानतः उसका आश्रम पाटलीपुत्र से बाहर लगभग एक कोस पूर्वोत्तर की ओर रहा होगा। अस्तु, सम्भव है कि कौटल्य के रहन-सहन की अत्यन्त सादगी के कारण ही वह उन यूनानियों की निगाह में कुछ न जचा हो, जो राजकीय वैभववाले सिकन्दर आदि के दरबार से चन्द्रगुप्त के यहाँ आते थे। उन्हें इस बात की कल्पना ही नहीं हुई होगी कि भारतवर्ष में एक धनहीन कोपीनधारी व्यक्ति ऐसे राज्य को बनानेवाला और ऐसे राज्य-कार्य का संचालन करनेवाला सूत्रधार हो सकता है।

कौटल्य की योग्यता—कौटल्य ने अर्थशास्त्र की रचना करके अपनी अपूर्व राजनैतिक प्रतिभा तथा असाधारण युद्ध, शासन और संगठन-सम्बन्धी ज्ञान का अद्भुत् परिचय दिया है। उसके ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वह नगर-निर्म्माण, राजपुत्रों की शिक्षा, गुप्तचर विभाग संगठन, सैन्य संचालन, खनिज शास्त्र, व्यापार कला, द्रव्यौषधि-विज्ञान, विष परीक्षा, विष-चिकित्सा, कृषि, पशु-पालन, कानून और वैद्यक आदि विद्याओं का निष्णात पंडित था।

उस समय की दृष्टि से, कौटल्य का भौगोलिक ज्ञान-भंडार भी यथेष्ट था। उसने अर्थशास्त्र में भारतवर्ष तथा विदेशों के जिन स्थानों—नगरों, नदियों, खानों, खाड़ी और झील आदि का उल्लेख किया है, वे प्रायः सही हैं। कई तत्कालीन यूनानी लेखकों की भाँति उसने कल्पना के आधार पर ही नहीं लिखमारा है। उसने हीरा, मोती, मूँगा, चन्दन, चमड़ा, रेशमी वस्त्र, नमक आदि पदार्थ उत्पन्न होने या बनाये जाने के कई स्थानों के नाम गिनाये हैं।

कौटल्य ने अपने ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न, कम-से-कम तीस ऐतिहासिक

घटनाओं का उल्लेख किया है, इनमें से कुछ सर्वश्रुत हैं, पर कितनी ही ऐसी हैं, जिनका ज्ञान पुराणों और इतिहासों को देखे बिना नहीं हो सकता। उसके अर्थशास्त्र के अनुवादकों को चाहिए कि ऐसे प्रसंगों के केवल उल्लेख से ही संतोष न कर, पाठकों की जानकारी के लिए उन पर विशेष प्रकाश डाला करें।

कौटल्य का जीवनोद्देश्य—कौटल्य के आर्थिक विचार इस पुस्तक में, तथा राजनैतिक विचार श्री० केला जी की दूसरी पुस्तक* में दिये गये हैं, इनसे उसकी इन विषयों सम्बन्धी नीति भलीभाँति विदित हो जायगी। यहाँ जीवनोद्देश्य के सम्बन्ध में विचार करना है। भारतवर्ष में बहुतसे आदमी धर्म और मोक्ष को प्रधानता देने वाले रहे हैं. इन्होंने लौकिक बातों की नितान्त अवहेलना की है; इसके विपरीत, कुछ व्यक्ति समय-समय पर ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने अर्थ और काम को मुख्य स्थान दिया है; खाओ, पीओ और मौज करो, भोग-विलासों का भरसक उपभोग करो, यही उनका दृष्टिकोण रहा है। आचार्य कौटल्य इन दोनों चरम सीमाओं से बचता है. वह एक प्रकार से समझौतावादी है। वह सर्वसाधारणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि को भलीभाँति समझता है, इसलिए वह उन्हें अर्थ और काम की प्राप्ति से वंचित रहने का आदेश नहीं करता, परन्तु वह यह भी नहीं चाहता कि मनुष्य नितान्त स्वेच्छाचारी और स्वार्थरत जीवन व्यतीत करें, इसलिए वह उनके अर्थ और काम पर धर्म का अंकुश रखता है। वह आदेश करता है कि सांसारिक जीवन में धर्म का यथेष्ट विचार रखा जाय।

उपसंहार—जिस प्रकार अर्थशास्त्र अनेक ज्ञातव्य और मनन योग्य बातों से परिपूर्ण है, उसी प्रकार आचार्य का जीवन कई बहुमूल्य शिक्षाओं से भरा हुआ है। एक साधारण गृहस्थ कुल में जन्म लेकर उसने अपने

---

*कौटल्य की शासन पद्धति।

समय को एक अत्यन्त महान और बलाढ्य राजशक्ति का सामना किया और अपने चातुर्य, दृढ़ता तथा साहस के बल से नन्द का नाश करके देश को बहुत कुछ नियमित और नियंत्रित शासक प्रदान किया, प्रजा के हित-चिन्तना में लगे रह कर सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों के लिए उपयोगी नियम निर्माण किये, तथा उन नियमों का समुचित व्यवहार कराकर सर्वत्र शान्ति, सुख और समृद्धि में अद्भुत् योग दिया।

इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि आचार्य का सब कार्य अपने व्यक्तिगत सुख, विलासिता या ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नहीं था। जब वह अपनी इच्छानुसार राज्य-संगठन का कार्य कर चुका तो उसने त्याग और शान्ति का मार्ग अवलम्बन किया। भारतीय संस्कृति के अनुसार उसने वर्णाश्रम के जो आदर्श स्थिर किये हैं, उन्हें उसने स्वयं अपने जीवन में भी चरितार्थ करके यह दिखला दिया कि वह उन लोगों में से नहीं था जिनका पांडित्य केवल दूसरों को उपदेश देने तक ही परिमित रहता है। वह दूसरों का शिक्षक था तो अपनी वासनाओं और ऐहिक कामनाओं पर यथेष्ट नियंत्रण रखने में भी समर्थ था। इस प्रकार वह आचार्य पद को वास्तव में चरितार्थ करनेवाला था; ऐसे व्यक्ति जिस देश और जाति में यथेष्ट संख्या में हों, उसका उद्धार होने में क्या सन्देह है! वह कदापि चिरकाल तक कष्ट-पीड़ित नहीं रह सकती। आचार्य कौटल्य ऐसा ही महान व्यक्ति था, वह धन्य है।

(२) कौटल्य का अर्थशास्त्र

आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र का कुछ परिचय प्राप्त करने से पूर्व, भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य, और विशेषतया आर्थिक साहित्य के सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना उपयोगी होगा।

भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य—बहुत से पाश्चात्य विद्वानों को तथा कितने ही भारतीय लेखकों की भी यह धारणा है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में आध्यात्मिक तथा पारलौकिक उन्नति की ओर ही ध्यान दिया जाता था, भारत के निवासी सांसारिक या भौतिक बातों की ओर से प्रायः उदासीन रहते थे। किन्तु तनिक विचार करने से यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो जायगी। प्राचीन भारतीयों की दृष्टि एकांगी नहीं थी। अनेक विद्वानों और ऋषियों ने इस संसार में, मानव जीवन के तीन उद्देश्य बतलाये हैं, धर्म, अर्थ, और काम। इन तीनों अर्थात् 'त्रिवर्ग'' की सिद्धि में ही जीवन की सफलता मानी जाती थी।

यद्यपि इस समय निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि धर्म अर्थ, और काम में से प्रत्येक के सम्बन्ध में भारतवर्ष में प्राचीन काल में कितना-कितना साहित्य तैयार था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ विद्या का इतना विकास अवश्य हो चुका था कि विद्वानों को जीवन के तीनों उद्देश्यों के विषय में स्वतंत्र रचना करने की आवश्यकता हुई और उन्होंने प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र साहित्य तैयार किया; यह दूसरी बात है कि उसमें से कुछ इस समय प्रकाश में नहीं है।

प्राचीन आर्थिक साहित्य—भारतवर्ष में आर्थिक साहित्य बहुत प्राचीन समय से रहा है यहाँ तक कि इसका उल्लेख वेदों में भी मिलता है। इस साहित्य के प्रथम आचार्य बृहस्पति थे।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का मत दिखाया है, और आवश्यकतानुसार उसकी आलोचना की है। ऐसे आचार्यों में कुछ ये हैं:—विशालाक्ष (इन्द्र), पाराशर, पिशुन (नारद), बाहुदन्ति, कौणपदन्त (भीष्म पितामह), वातव्याधि (अक्रूर या उद्धव), भारद्वाज (द्रोणाचार्य या कणक जो दुर्योधन का मन्त्री था), खरपट्ट। इनके अतिरिक्त कौटल्य ने मनु, बृहस्पति, उशनस

और अम्भीय, इन चार आर्थिक सम्प्रदायों के आचार्यों का भी उल्लेख किया है। इनके अधिकांश ग्रन्थ तो इस समय अनुपलब्ध ही हैं। इन ग्रन्थों के न मिलने का एक कारण यह भी हो सकता है कि आचार्य कौटल्य ने अपने ग्रन्थ की रचना उनके सम्यक् अध्ययन के अनन्तर की है। उनके आवश्यक अंशों का संग्रह तथा आलोचना कौटल्य के अर्थशास्त्र में आजाने से उन ग्रन्थों की इतनी आवश्यकता नहीं रही और इसलिए उनकी यथेष्ट रक्षा भी नहीं की गयी।

कौटल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त, कुछ रचना बार्हस्पत्य सूत्रों के नाम से सर्वसाधारण के सामने है। महाभारत और अग्निपुराण तथा विविध स्मृतियों के कुछ भाग भी अर्थशास्त्र सम्बन्धी हैं।

कौटल्य का ग्रन्थ—यद्यपि कौटल्य और उसके अर्थशास्त्र का अन्य विविध ग्रन्थों में उल्लेख आने से विद्वानों को यह तो ज्ञात था कि कौटल्य का कोई ग्रन्थ है, परन्तु पहले वह प्रकाश में नहीं आया था। सबसे प्रथम सन् १९०९ ई० में मैसूर राज्य के ग्रन्थालय के अध्यक्ष श्री० शाम शास्त्री जी ने इसे प्रकाशित कराया। उन्होंने इसका अंगरेजी में अनुवाद कर दिया। इस प्रकार मूल और उसका अंगरेजी अनुवाद प्रकाशित होजाने पर, भारतीय तथा योरपीय विद्वानों को यह अमूल्य सामग्री उपलब्ध हो सकी, और फिर इसके विषय में उनके विचार और आलोचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। कई स्थानों से इसके संस्कृत और अंगरेजी के संस्करण प्रकाशित हुए। हिन्दी भाषा में इसका पहला अनुवाद १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ, यह श्री० प्राणनाथ जी विद्यालंकार द्वारा किया हुआ था। श्री० उदयवीर जी शास्त्री का अनुवाद सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ।

साधारण परिचय—आचार्य कौटल्य के अर्थशास्त्र में गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचना है। गद्य भाग में संक्षिप्त सूत्र और उनका

भाष्य है। अपने रचे हुए सूत्रों का भाष्य आचार्य ने स्वयं इसलिए कर दिया है कि कोई टीकाकार उसके अभिप्राय से अनभिज्ञ रहकर अनर्थ न कर डाले। किन्तु, भाष्य कर देने पर भी, आधुनिक पाठकों की दृष्टि से आचार्य का मनोरथ सफल हुआ नहीं कहा जा सकता। हम देखते हैं कि एक अंगरेजी का और दो हिन्दी के अनुवाद हो चुकने पर भी किसी-किसी विषय में आचार्य का भाव ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इसके अतिरिक्त यह भी कठिनाई है कि मूल भाग का भाष्य से अलग करना असम्भव प्रतीत होता है।

गद्य भाग के अतिरिक्त, मूल ग्रन्थ में ३७५ श्लोक या पद्य हैं। इनमें से अधिकतर 'अनुष्टुप' छन्द के हैं, और ये प्रायः प्रत्येक अध्याय के अन्त में उपसंहार रूप से लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ के श्लोकों में से कुछ उसी रूप में अथवा नाममात्र के भेद से, अन्य प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

रचना-शैली और भाषा—प्राचीन शैली के अनुसार आचार्य ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही क्रमबद्ध अध्यायों और प्रकरणों के विषय-बोधक नाम या शीर्षक (हैडिंग) बतलाते हुए कहा है कि इस ग्रन्थ में १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० प्रकरण और ६००० श्लोक हैं, जो ग्रन्थ में दिये हुए सब अक्षरों के योग से बनाये जा सकते हैं*। आचार्य ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण का नाम 'औपनिषदिक' रखा है। अन्य प्राचीन विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में कुछ अत्यन्त रहस्यमयी और गुप्त बातें बतलाने के लिए ऐसा प्रकरण रखा है। प्राचीन विद्वान अपने ग्रन्थों में स्वतंत्र रचना वहीं ही करते थे, जहाँ उन्हें अपने से पहले ग्रन्थ-कर्ताओं के वाक्यों या श्लोकों की अपेक्षा संक्षिप्त, सरल या स्पष्ट रचना

---

*एक श्लोक में ३२ अक्षर होते हैं। यदि इस अर्थशास्त्र के कुल अक्षरों को अनुष्टुप छन्दों में बाँध दिया जाय तो छः हज़ार श्लोक बनते हैं।

करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। आचार्य कौटल्य ने इसी शैली का अवलम्बन किया है। उन्होंने ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में तंत्र-युक्तियों का उल्लेख किया है, जो प्रायः सब, उदाहरणों को छोड़कर, सुश्रुत के अन्तिम अध्याय में हैं। किन्तु आचार्य ने उनका जो क्रम रखा है, वह अधिक उपयुक्त है। साथ ही आचार्य के दिये हुए उदाहरण अधिक उपयोगी हैं, क्योंकि वे उदाहरण स्वयं आचार्य के ग्रन्थ से हैं, उनसे आचार्य की रचना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अर्थशास्त्र की भाषा प्राचीन ढङ्ग की (Classical) है। इसमें लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं, और शब्दों का व्यवहार बहुधा यौगिक भावों को लिये हुए है। ग्रन्थ में कुछ कम प्रचलित शब्द भी पाये जाते हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। उनमें से बहुतसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, शुक्र नीतिसार, कामन्दकीय नीति आदि राजनीति-ग्रन्थों में भी व्यवहृत हुए हैं; फिर जो नये शब्द हैं उन्हें आचार्य ने स्वयं परिभाषा के रूप में समझाया है। किन्तु कहीं-कहीं पाठ-भेद आदि के कारण उसकी परिभाषा के समझने में भी अड़चन पड़ती है।

कौटल्य सरल और व्यावहारिक भाषा प्रयोग करने वाला लेखक है। उसने स्थान-स्थान पर लोकोक्तियां या कहावतें दी हैं। इससे उसकी भाषा सरल एवं चमत्कार-पूर्ण हो गयी है। उसकी लेखन-शैली बहुत तर्कयुक्त तथा प्रामाणिक है। जब वह किसी विषय में अपने किसी पूर्ववर्ती आचार्य के मत की आलोचना या खंडन करता है, या दो वस्तुओं के गुण दोष की तुलना करता है तो उसकी रचना देखते ही बनती है। स्थान-स्थान पर वह पाठक के हृदय में यह बात बैठा देता है कि भाषा तथा विषय दोनों पर उसका पूर्ण अधिकार है। आचार्य एक शब्द को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त करने के पक्ष में जान पड़ता है।

ग्रन्थ का उद्देश्य—कौटल्य ने अपना ग्रन्थ इस उद्देश्य से लिखा था कि इस एक ही ग्रन्थ के स्वाध्याय से राजा को अपने कर्तव्य और

अधिकारों तथा सामाजिक, नैतिक और आर्थिक विषयों का ज्ञान हो जाय, और वह ऐसे मंत्री, नौकर और जासूस आदि रख सके, एवं ऐसे नियमों को प्रचलित कर सके, जिनसे उसे अपने राज्य की उन्नति करने में सुविधा हो। आचार्य ने अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण के दसवें अध्याय के अन्त में कहा है, "कौटल्य ने सब शास्त्रों को अच्छी तरह जानकर, और उनके प्रयोगों को भलीभांति समझ कर राजा के लिए इस शासन-विधि का उपदेश किया है।" पन्द्रहवें अधिकरण के अन्त में वह लिखता है, "जिसने उत्तेजित होकर शास्त्र, शस्त्र, और नन्दराज के हाथ में गयी पृथ्वी का जल्दी उद्धार किया है, उसने इस शास्त्र का निर्म्माण किया है।"

ग्रन्थ की विशेषता—अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है, इसका आधार, मनुष्य की समाज में रहने की प्रवृत्ति, होती है और इसके सिद्धान्तों का प्रयोग किसी देश के आदमियों के लिए उस देश की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार पृथक्-पृथक् विधि से होता है। आचार्य कौटल्य का ग्रन्थ मौर्यकाल की राज्य सम्बन्धी आर्थिक एवं अन्य समस्याओं को दृष्टि में रखकर, उन्हें सुलझाने के लिए, लिखा गया है। इसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका राष्ट्रीय सरकार द्वारा उपयोग किया जाना बहुत लाभकारी समझा गया। अपनी वर्तमान अवस्था में, और विशेष प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों की शिक्षा पाने के कारण यह सम्भव है कि हमें आचार्य की कुछ बातें बड़ी अनोखी और अमान्य प्रतीत हों। परन्तु हमें इन पर विचार करते हुए यह स्मरण रखना चाहिए कि उसका 'अर्थशास्त्र' तत्कालीन भारत का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र है। इसकी कितनी ही बातें इस समय भी यथेष्ट महत्वपूर्ण हैं, विशेषतया इसलिए कि यहाँ राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने का आयोजन हो रहा है।

कौटल्य की सफलता—किसी व्यक्ति के विचारों या सिद्धान्तों की सफलता, उन्हें कार्य में परिणत करने से होनेवाले परिणामों से

जानी जाती है, अतः कौटल्य के आर्थिक सिद्धान्तों की सफलता की जाँच करने के लिए हमें देखना चाहिए कि उनका आचार्य के बाद आने-वाले समय में क्या प्रभाव हुआ। क्या आचार्य देश को स्वावलम्बी बना सका, क्या वह समाज को विदेशी श्रम और पूँजी के प्रभाव से सुरक्षित रख सका, और क्या वह समाज में शूद्रों, कारीगरों, मज़दूरों आदि की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायक हो सका ? स्मरण रहे कि समाज पर किस प्रयोग का क्या प्रभाव पड़ा, इसे भलीभाँति जानने के लिए कभी-कभी वर्षों ही नहीं, पीढ़ियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अतः कौटल्य के आर्थिक विचारों के प्रयोग का परिणाम समझने के लिए हमें केवल उसके ही समय की परिस्थिति का विचार न कर, उसके कुछ समय पश्चात् की, अशोक के समय की भी परिस्थिति सोचनी होगी।

अशोक के समय में यहाँ जनता की सुख सामग्री कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, लोगों की सामाजिक रीति-रस्म, व्यवहार, आमोद, दान धर्म, शान-शौकत कितनी अधिक थी, इस विषय में हमारे विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। इतिहास के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि उस समय लोगों को न केवल अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता न थी, वरन् उन्हें अनेक प्रकार अपव्यय करने की आदत थी। इससे सहज ही यह अनुमान हो सकता है कि उस समय भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से बहुत उन्नत था।

यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन उत्तम आर्थिक परिस्थिति के उत्पादक कारण और भी रहे होंगे, तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि उसमें कौटल्य के सिद्धान्तों के प्रयोग का भी बड़ा भाग रहा है; अस्तु इससे कौटल्य की सफलता स्पष्ट है।

दूसरा अध्याय
अर्थशास्त्र का विषय

इस पुस्तक में हमें यह विवेचन करना है कि भिन्न-भिन्न आर्थिक विषयों में आचार्य कौटल्य के क्या विचार थे। प्रथम यह बता देना आवश्यक है कि आजकल अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किन-किन विषयों का समावेश किया जाता है और आचार्य की दृष्टि में इस शास्त्र का क्षेत्र क्या था।

अर्थशास्त्र का आधुनिक क्षेत्र—आजकल अर्थशास्त्र की परिभाषा संक्षेप में इस तरह की जाती है कि यह वह विद्या है जो समाज में रहनेवाले मनुष्यों के अर्थ अर्थात् धन सम्बन्धी प्रयत्नों और सिद्धान्तों का विवेचन करे। इस परिभाषा में प्रयुक्त धन सम्बन्धी प्रयत्नों में धन का उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, और वितरण आदि सम्मिलित हैं, जिनकी व्याख्या आगे प्रसंगानुसार की जायगी।

कुछ समय से आधुनिक अर्थशास्त्रियों की प्रवृत्ति अर्थशास्त्र के क्षेत्र को क्रमशः बढ़ाने की ओर रही है। कुछ अर्थशास्त्री व्यापार-संगठन, औद्योगिक व्यवस्था, यातायात के साधन, नगर-निर्माण आदि जनता के कुशल-क्षेम तथा सुख-समृद्धि के प्रश्नों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं। आर्थिक बातों का पहले से अनुमान करना

भी कुछ लेखकों के मतानुसार अर्थशास्त्र का ही अंग माना जाना चाहिए। सम्भव है कि भविष्य में अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाय, इसमें व्यावहारिक अंश बहुत बढ़ जाय, परन्तु अभी तो यह प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्धारित क्षेत्र से बहुत कम है; यह बात आगे की पंक्तियों से विदित हो जायगी।

अर्थशास्त्र का प्राचीन क्षेत्र—आचार्य कौटल्य ने विद्याओं के जो चार भेद किये हैं, उनमें से वार्ता और दण्ड प्राचीन काल में यहाँ अर्थशास्त्र के मुख्य अंग थे, अन्य दो विद्याएँ आन्वीक्षकी और त्रयी हैं। वार्ता का अभिप्राय है कृषि, पशु-पालन और व्यापार। शासन-नीति का प्रतिपालन करनेवाला शास्त्र दंड-नीति कहलाता है। वार्ता को आजकल सम्पत्तिशास्त्र या अर्थशास्त्र कह सकते हैं, परन्तु वास्तव में उसका क्षेत्र कहीं अधिक मालूम होता है। आजकल के विचार से उसके कई स्वतन्त्र भाग हो सकते हैं। कृषिविद्या और पशु-पालन के विषय का आधुनिक अर्थशास्त्र में यथेष्ट विवेचन नहीं होता; इनके तथा इनकी भिन्न-भिन्न शाखाओं के साहित्य का आजकल पृथक् अस्तित्व है। परन्तु प्राचीन काल में ये भी अर्थशास्त्र के अंग होते थे।

वार्ता के अतिरिक्त उस समय दंड भी अर्थशास्त्र का ही एक मुख्य अंग माना जाता था। आजकल की भाषा में इसे राजनीतिशास्त्र या राज्यविज्ञान कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में दंड के अन्तर्गत उस समय सन्धि विग्रह आदि ऐसे विषयों का भी समावेश हो जाता था, जिन्हें आजकल स्वतन्त्र स्थान मिला हुआ है।

कौटल्य के ग्रन्थ का विषय—आचार्य कौटल्य के अर्थ शास्त्र का क्षेत्र समझने के लिए उसके दो वाक्य पाठकों के पथ-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं। आचार्य ने अपने ग्रन्थ का श्रीगणेश इस प्रकार किया है, "पृथ्वी के प्राप्त करने और प्राप्त पृथ्वी की रक्षा करने के लिए जितने अर्थशास्त्र प्राचीन आचार्यों ने लिखे, प्रायः उन सबको ही संग्रहीत करके, यह एक अर्थशास्त्र बनाया गया है।" पुनः अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण में, अर्थ की परिभाषा में यह बताकर कि मनुष्यों से युक्त भूमि का भी नाम अर्थ है, कौटल्य लिखता है, 'इस भूमि के प्राप्त करने और रक्षा करने के उपायों का निरूपण करनेवाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है।' उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र 'पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने' के उपायों का विचार करना है। यह भूमि जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से विदित होता है, मनुष्यों से युक्त है, अथवा जैसा कि आचार्य के विवेचन से ज्ञात होता है मनुष्यों से युक्त की जानेवाली अथवा उनके लिए उपयोगी बनायी जानेवाली है। कौटलीय अर्थशास्त्र के देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रत्येक ऐसी बात का विचार करता है, जिससे समाज की सुख-शान्ति बढ़े, उसकी शारीरिक और मानसिक उन्नति हो। उसने अपने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशों के विजय करने तक की अनेक बातें दी हैं। शहरों का बसाना, खुफिया पुलिस का इन्तजाम, फौज की रचना, अदालतों की स्थापना, फौजदारी और दीवानी के कानून, विवाह सम्बन्धी नियम

दाय भाग, दत्तक, शत्रुओं पर चढ़ाई, किलेबन्दी, नये किले बनवाना, सन्धि और उनके भेद और परिवर्तन, ऐसी औषधियों का उपयोग जिनके द्वारा शत्रुओं को युद्ध में भयंकर हानि पहुँचे, अनेक प्रकार की व्यूह-रचना आदि विविध बातों का आचार्य अपने इस ग्रन्थ में विचार करता है।

अस्तु, कौटल्य के ग्रन्थ की कितनी-ही बातें अर्थशास्त्र के आधुनिक काल में निर्दिष्ट किये हुए क्षेत्र से बाहर जाती हैं, यद्यपि वे हैं अपने-अपने विषय की यथेष्ट महत्वपूर्ण। बात यह है कि भारतवर्ष के प्राचीन विद्वान अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत व्यापक रखते थे। कौटल्य ने भी उनका अनुकरण करते हुए अपने ग्रन्थ का विषय बहुत विस्तृत रखा है।

अर्थशास्त्र-विषय-विभाग—आधुनिक अर्थशास्त्रियों के और कौटल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कितना अन्तर है, इसका स्पष्टीकरण दोनों के विषय-विभाग से सहज ही हो जायगा। आज-कल अर्थशास्त्र का विषय-विभाग संक्षेप में इस प्रकार किया जाता है:—

१—धन का उपभोग।

२—धन की उत्पत्ति।

३—धन का विनिमय और व्यापार।

४—धन का वितरण।

अब इसकी तुलना में कौटल्य के ग्रन्थ की विषय-सूची देखिए, जो संक्षिप्त रूप में आगे दी जाती है:—

(१) विनयाधिकारिक या शास्त्र-ज्ञान, विद्या समुद्देश, अमात्य, मंत्री, पुरोहित, गुप्तचर, राजकुमार, राजभवन आदि के सम्बन्ध में विचार।

(२) अध्यक्ष-प्रचार—राज्य के विविध विभागों के अध्यक्षों अर्थात् निरीक्षकों या प्रधान अधिकारियों के सम्बन्ध में विचार।

(३) धर्मस्थीय—न्यायाधीश सम्बन्धी, विशेषतया दीवानी विषयक विचार।

(४) कंटकशोधन—प्रजा के रक्षा सम्बन्धी, विशेषतया फौजदारी विषयक विचार।

(५) योग वृत्त—राजा और उसके अमात्यों की रक्षा सम्बन्धी विचार।

(६) मंडल योनि—प्रकृतियों (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र) के गुण तथा शान्ति और उद्योग सम्बन्धी विचार।

(७) षाड्गुण्य—संधि, विग्रह, यान (शत्रु पर चढ़ाई करना), आसन (उपेक्षा), संश्रय (बलवान से मित्रता करना) और द्वैधी भाव (सन्धि और विग्रह दोनों का उपयोग) सम्बन्धी विचार।

(८) व्यसनाधिकारिक—दैवी और मानुषी विपत्तियों सम्बन्धी विचार।

(९) अभियास्यत कर्म—शक्ति, देश, काल के बलाबल और विविध विपत्तियों से बचने की योजना आदि सम्बन्धी विचार।

(१०) सांग्रामिक—युद्ध सम्बन्धी विचार।

(११) संघवृत्त—भेद डालनेवाले उपायों के प्रयोग तथा उपांशु दंड (छिपकर किसी का वध करा देना) आदि सम्बन्धी विचार।

(१२) आबलीयस—प्रबल अभियोक्ता के प्रति दुर्बल राजा के कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार।

(१३) दुर्गलम्भोपाय—शत्रु के दुर्गों की प्राप्ति सम्बन्धी विचार।

(१४) औपनिषदिक—परघात प्रयोग, औषधि और मंत्रों के रहस्य सम्बन्धी विचार।

(१५) तंत्रयुक्ति—अर्थ के निर्णय के लिए उपयोगी युक्तियों सम्बन्धी विचार।

स्थानाभाव तथा पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए हम इस पुस्तक में आचार्य के केवल उन्हीं विचारों का विवेचन करेंगे जो आजकल अर्थशास्त्र का विषय माने जाते हैं।

तीसरा अध्याय

अर्थ या धन

इस पुस्तक के विषय को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र की भाषा में 'अर्थ' या 'धन' शब्द से क्या अभिप्राय है, और इसके क्या-क्या भेद हैं। पहले आधुनिक दृष्टि से विचार करते हैं, फिर कौटल्य का मत देंगे।

अर्थ या धन का आधुनिक अभिप्राय—प्राचीन काल में प्रायः आदमी धन से रुपये-पैसे आदि सिक्कों या सोना-चाँदी आदि

धातुओं का ही आशय लेते थे। अब भी बहुतसे आदमी धन का अर्थ रुपया-पैसा ही समझते हैं, परन्तु वास्तव में सोचा जाय तो ये ही चीजें धन नहीं हैं, इनसे प्रत्यक्ष रूप से हमारी भूख प्यास, सर्दी गर्मी आदि नहीं मिटती। मनुष्यों को अपने जीवन-निर्वाह या भौतिक सुख के लिए मूल आवश्यकता भोजन-वस्त्र, तथा मकान आदि की होती है। इन चीजों को या तो वह स्वयं बनाता है, या दूसरों की बनी हुई लेता है। जिस दशा में वह दूसरों से लेकर अपना काम चलाना चाहता है, उसे उनके बदले में अपनी बनायी हुई कुछ चीज़ देनी होती है, या उसकी कीमत चुकानी होती है। बहुतसी चीजें ऐसी होती हैं, जिनके उत्पन्न या तैयार करने में मनुष्यों को एक दूसरे की, या दूसरों के साधनों की, सहायता की आवश्यकता होती है; इस दशा में, उन्हें उनका प्रतिफल देना होता है।

अस्तु, अर्थशास्त्र में धन के अन्तर्गत मनुष्यों द्वारा उत्पन्न या संग्रहीत वे सब पदार्थ माने जाते हैं, जिनसे उनकी किसी प्रकार की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, और जिन्हें देकर बदले में अन्य उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हैं। इस प्रकार अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ धन हैं। आजकल धन का कुछ और भी व्यापक अभिप्राय लिया जाने लगा है। यद्यपि अभी तक सर्वसाधारण धन के अन्तर्गत भौतिक या स्थूल पदार्थों का ही समावेश करते हैं, तथापि बहुत से अर्थशास्त्रज्ञ कुछ सूक्ष्म वस्तुओं को भी धन मानने लगे हैं। उदाहरणार्थ वे मनुष्यों द्वारा की जाने-वाली सेवाओं को भी धन मानते हैं। सम्भव है भविष्य में मानवी

गुणों या योग्यताओं को भी धन माने जाने के पक्ष में लोकमत तैयार हो जाय।

कौटल्य के अनुसार धन का क्षेत्र—धन सम्बन्धी विचारों का विकास होने में भिन्न-भिन्न देशों में बहुत समय लगा। अधिकांश देशों में सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक सोना-चाँदी आदि धातुओं को ही धन मानते रहे। परन्तु कौटल्य के ग्रन्थ से मालूम होता है कि भारतवर्ष के विद्वानों ने बहुत समय पूर्व से धन का व्यापक अर्थ समझ लिया था। आचार्य ने अर्थशास्त्र में उन सब स्थूल द्रव्यों को विचारणीय माना है और अनेक का विचार किया है, जिनका धन के रूप में उपयोग किया जा सकता है, या जिनसे धन की उत्पत्ति और वृद्धि में सहायता मिलती है। वह 'विष्टी' (मनुष्य के श्रम या सेवा) को भी धन मानता है। इसके अतिरिक्त वह अर्थ-शास्त्र के पन्द्रहवें अधिकरण में लिखता है कि "मनुष्य के व्यवहार या जीविका को 'अर्थ' कहते हैं। मनुष्यों से युक्त भूमि का भी नाम 'अर्थ' है।" वह राज्य की प्रकृतियों (State Constituents) की विवेचना में राजा और राजकर्मचारियों के गुणों और योग्यताओं को भी सम्पत्ति कहता है। जनपद सम्पत्ति, दंड सम्पत्ति और जंगमज सम्पत्ति का भी उसने विस्तारपूर्वक विचार किया है।

जनपद सम्पत्ति—जनपद सम्पत्ति के विषय में आचार्य ने बतलाया है कि जहाँ स्वदेशी और विदेशी मनुष्यों के लिए यथेष्ट धान्य पैदा हो; आपत्तियों में पहाड़, वन आदि के द्वारा देशवासियों

की रक्षा हो सके; थोड़े ही परिश्रम से अन्न पैदा हो जाय; अपने शत्रु से द्वेष रखनेवाले मनुष्यों की आबादी हो; आस-पास कमजोर राजा हो; कीचड़, कंकर, ऊसर, ऊँची-नीची जमीन, चोर, बदमाश, स्वभावज अपराधी, हिंसक जानवर और घने जंगल न हों; नदी तालाब आदि से युक्त खेती हो, खान, लकड़ियाँ और हाथी यथेष्ट हों; गाय भैंस आदि पर्याप्त हों, जल और थल में तरह-तरह की बिक्री की चीजें पैदा हों, निम्नवर्ण के, प्रेम करनेवाले तथा शुद्ध हृदयवालों की आबादी हो, वही जनपद सम्पत्ति कहलाता है।

दंड सम्पत्ति—दंड सम्पत्ति में क्रमागत और स्थिर सेवा-भाव, आज्ञापालन, राजा की ओर से भरण-पोषण के विषय में संतुष्ट रहना, यात्रा में भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की योग्यता होना, युद्ध चातुर्य, सहिष्णुता, हानि-लाभ का विचार न कर राजभक्त होना आदि गुण और योग्यताएँ गिनायी गयी हैं।

जंगमज सम्पत्ति—चमड़ा, बाल, ऊन हड्डी आदि ऐसी वस्तुएँ भी जो जंगम सृष्टि (पशु-पक्षी आदि) से उत्पन्न होती हैं, आचार्य की निगाह से नहीं बची हैं। हाथी-दांत जैसी चीजें भारतवर्ष से बाहर जाकर अच्छे मूल्य पर बिकती थीं, अतः इनका भी अर्थशास्त्र में सम्यक् विचार किया गया है।

सारांश—निदान, कौटल्य की दृष्टि में सम्पत्ति, धन या अर्थ शब्द अत्यन्त व्यापक है। उसके मत से, जिस गुण का भी उपयोग किया जा सकता है, जो शक्ति काम में आ सकती है, जिस परिस्थिति से लाभ उठाया जा सकता है, वह सब सम्पत्ति है। कौटल्य ने अपने

ग्रन्थ में धन के इस व्यापक क्षेत्र को बराबर लक्ष्य में रखा है। इसलिए उसने आर्थिक लाभ की दृष्टि से उपर्युक्त विविध प्रकार की सम्पत्ति के उपयोग और वृद्धि सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विचार उपस्थित किये हैं। हम उनका आगे प्रसंगानुसार उल्लेख करेंगे। अस्तु, आचार्य कौटल्य के अनुसार अर्थ या धन का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों में से जो धन का व्यापक अर्थ लेते हैं, वे भी आचार्य के अर्थ की सीमा तक नहीं पहुँचते। हाँ, जैसा कि पहले कहा गया है आजकल अर्थशास्त्र के विद्वानों की वर्तमान प्रवृत्ति इस ओर अवश्य है कि वे धन का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करें। सम्भव है कि वे भविष्य में आचार्य के विचार तक पहुँच जावें।

चौथा अध्याय

उपभोग के पदार्थ

मनुष्य किसी वस्तु की उत्पत्ति या क्रय विक्रय इसीलिए किया करते हैं कि उन्हें विविध आवश्यकताएँ होती है, वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उपभोग करना चाहते हैं। अस्तु, इस अध्याय में आचार्य के उपभोग सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जायगा; पहले उपभोग के तत्कालीन पदार्थों का विवेचन किया जाता है।

भारतवासियों की सुख-समृद्धि—अर्थशास्त्र के अनुसार उन वस्तुओं की सूची बहुत लम्बी है जिन्हें उस समय का भारतीय समाज काम में लाता था। उदाहरणवत् आचार्य ने बढ़िया ऊनी रेशमी और सूती वस्त्र; सोने-चाँदी और ताँबे आदि के बर्तन; हीरा, मूँगा, मोती, चन्दन, कपूर, कस्तूरी, खस आदि मूल्यवान वस्तुओं से लेकर अनेक प्रकार की औषधियों, घी, तेल; अनेक प्रकार के अन्न, दाल; लकड़ी, पत्थर, रत्न, आभूषण, पुष्प, वाहन; हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, तोता, मैना आदि पालतू पशु-पक्षियों तक का उल्लेख किया है। उसने सोने के कवच, रत्न-जड़ित हथियार, बड़ी नाव, भाँति-भाँति के भोजन और आमोद-प्रमोद के साधनों का भी वर्णन किया है। इससे तथा तत्कालीन विदेशी यात्रियों के लेखों से यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि यहाँ अधिकतर समाज सुख-सम्पन्न था। परन्तु हमें उपभोग-सम्बन्धी कुछ विशेष विचार करना चाहिए। विस्तार-भय से हम यहाँ कुछ खास-खास आवश्यकताओं की ही पूर्ति का विषय लेते हैं।

भोजन—यहाँ गेहूँ, मूँग, उड़द, चावल आदि नाना प्रकार के अन्न होते थे। फलतः यहाँ उनका उपभोग होता था। अर्थशास्त्र में धान्यवर्ग के अतिरिक्त, स्नेह (घी तेल आदि), क्षार वर्ग (राब, गुड़, खांड, मिश्री, कन्द आदि), लवण (नमक आदि), मधु (शहद) और तरह-तरह के मसाले आदि का भी उल्लेख मिलता है।

आचार्य ने मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों के भोजन का परिमाण, तथा विविध भोजनों के बनाने की विधि भी ब्यौरेवार लिखी है। बिना टूटे

हुए एक प्रस्थ चावल, चौथायी प्रस्थ सूप अर्थात् दाल, दाल का सोलहवाँ हिस्सा नमक, तथा दाल का चौथा हिस्सा घी अथवा तेल मध्यम स्थिति के एक आर्य पुरुष का भोजन होता है। अधम स्थिति-वालों के लिए दाल प्रस्थ का छठा भाग और, और घी या तेल पहले से आधा होना चाहिए। शेष सामान पहले के बराबर होना चाहिए। इसमें चौथायी हिस्सा कम भोजन स्त्रियों के लिए होना चाहिए, तथा आधा हिस्सा बालकों के लिए होना चाहिए।*

मालूम होता है कि उस समय यहाँ माँस का भी उपभोग बहुत होता था, और इसके लिए कई प्रकार के पशु (हिरण, अरणा भैंसा, सुअर आदि), पक्षी (मोर आदि), और मछलियाँ मारी जाती थीं। सूखे मांस का भी उपभोग होता था।

जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, उस समय शराब का सेवन खासी मात्रा में होता हुआ ज्ञात होता है। कौटल्य ने लिखा है कि शराबखानों को निम्नलिखित रीति से बनवाया जाय। उनमें अनेक कक्ष्या अर्थात् कमरे होने चाहिएँ, सोने और बैठने के लिए अलहदा-अलहदा कमरे बने हों, तथा शराब पीने के स्थान भी पृथक्-पृथक् हों। इनमें सुगन्धि, फूल, माला तथा जल आदि का पूरा प्रबन्ध हो। ये इस ढङ्ग के बने हुए होने चाहिएँ कि प्रत्येक ऋतु में सुखकर हो सकें।

वस्त्र—आचार्य ने जिन वस्त्रों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:—सूती, रेशमी, तथा भेड़ बकरी के ऊन के

---

* कौटल्य के दिये हुए परिमाणों के अनुसार एक प्रस्थ, आजकल के हिसाब से आध सेर के लगभग होता है।

बने हुए वस्त्र, ओढ़ने बिछाने तथा पहनने के वस्त्र, मोटे रेशमी कपड़े, महीन रेशमी बढ़िया-बढ़िया कपड़े, चीन के बने रेशमी कपड़े, रंकू नामक हिरण के बालों के कपड़े, सेम्भल तथा सन के कपड़े और छाल को कूटकर निकाले हुए रेशों से बने तरह-तरह के वस्त्र, जिनका मूल्य बाजार में कपड़े की चिकनायी, बनावट और मोटाई तथा माल के वजन के अनुसार होता था, दुशाले, भेड़ और बकरी के चमड़े के वस्त्र आदि। वस्त्रों के इन उदाहरणों से सिद्ध है कि उपभोग की यह मद साधारण पदार्थों तक ही परिमित न थी।

धातु और रत्न—अर्थशास्त्र के 'कोष में ग्रहण करने योग्य रत्नों की परीक्षा' शीर्षक प्रकरण में दस से लेकर एक हजार आठ मोतियों तक की मालाओं का उल्लेख, है, जिनमें कई-कई लड़ होती थीं। आचार्य ने तीन प्रकार के जवाहरात, छः प्रकार के हीरे, दो प्रकार के प्रवाल (मूंग) बतलाकर इन में से एक-एक के बहुत से भेद गिनाये हैं। उसने सोने के आठ और चाँदी के पांच भेद बतलाते हुए इनके अनेक आभूषणों तथा इन धातुओं के अतिरिक्त तांबे लोहे जस्त, कांसे आदि के बर्तन और अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख किया है। इनके उपभोग से समाज की समृद्धि का अच्छा ज्ञान होता है।

उपभोग के अन्य पदार्थ—रोजमर्रा काम में आनेवाले जिन अन्य पदार्थों का आचार्य ने उल्लेख किया है उनमें से कुछ निम्न-लिखित हैं:—

चन्दन—कम से कम सोलह प्रकार का। अगर, दारु हल्दी आदि के अनेक भेद।

चमड़ा—रंग, उत्पत्ति-स्थान, और घटिया-बढ़िया होने के कारण पंद्रह तरह का। इसमें समूर, मृग-व्याघ्र-चर्म आदि भी शामिल हैं।

पशुओं की हड्डी, बाल, दाँत आदि।

पत्थर, ईंट आदि इमारत का सामान।

सूत, सन, बाँस, बेंत, रेशम की डोर, वर्त्त (मोटे रस्से), छोटी-बड़ी रस्सी, फर्श आदि।

तौल माप के यन्त्र—इनका उल्लेख 'देशी व्यापार' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

घटि यन्त्र—छेद किये हुए घड़े में पानी भरकर समय नापने के लिए। छाया पुरुष, धूप में परछाँई के अनुसार समय का अनुमान करने के लिए।

यज्ञ और देव-पूजा का सामान—कोयला, ईंधन आदि जलनेवाले पदार्थ।

उपधातु—हड़ताल, मनसिल, हिंगुल (शिंगरफ), गेरू और रँगाई के काम में आनेवाली दूसरी मिट्टियाँ।

विविध औषधियाँ, लकड़ी बाँस मिट्टी के बर्तन।

खेती के काम में आनेवाले अनेक प्रकार के बीज, कृषकों और कारीगरों के काम के औजार।

तरह-तरह के हाथी, घोड़े, रथ, गाय, भैंस आदि पशु, इत्यादि।

लड़ाई का सामान—मौर्य काल का भारत, देश-रक्षा के कार्य में स्वावलम्बी था। पर्याप्त संख्यक युवक और युवतियाँ भी

अस्त्र-शस्त्र चलाने में अभ्यस्त थी। ऐसी स्थिति में लड़ाई के सामान की प्रचुरता होनी तथा उसका घर-घर प्रचार होना स्वाभाविक ही था। अर्थशास्त्र में युद्धोपयोगी वस्तुओं की सुदीर्घ सूची दी गयी है।

विशेष वक्तव्य—सम्भव है, कुछ पाठकों को इस अध्याय की, उपभोग के पदार्थों की सूची बहुत बड़ी प्रतीत हो, तथापि यह पूर्ण नहीं है। अर्थशास्त्र में उल्लेख की हुई सब वस्तुओं के नाम देना अभीष्ट भी नहीं है। ऊपर दिये उदाहरण भारतवासियों की तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति का आभास देने के लिए पर्याप्त हैं।

पाँचवाँ अध्याय

रहन-सहन और आचार-व्यवहार

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आचार्य कौटल्य के ग्रन्थ से यहाँ के उपभोग्य पदार्थों की कैसी जानकारी प्राप्त होती है। अब इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि उस समय यहाँ लोगों का रहन-सहन और आचार-व्यवहार कैसा था, तथा आचार्य ने उसके सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किया है, अथवा व्यवस्था की है।

लोगों का रहन-सहन—यद्यपि आचार्य ने लोगों के रहन-सहन के विविध नियम दिये हैं, उसने उनके तत्कालीन रहन-सहन का क्रमबद्ध वर्णन नहीं किया है। इसलिए और आचार्य के विचारों को

समझने के लिए भी इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विदेशी यात्री मेगस्थनीज के लेख का निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय है। वह लिखता है कि 'भारतवर्ष के लोग अपने घर और सम्पत्ति को प्रायः अरक्षित (बिना ताला लगाये) छोड़ देते हैं, चोरी बहुत कम होती है। चन्द्रगुप्त की छावनी में प्रायः चार लाख आदमी रहते थे, किन्तु वहाँ किसी भी दिन दो सौ द्राच्मी (लगभग चालीस रुपये) से अधिक की चोरी की इत्तला नहीं होती थी। वे अपनी चाल-ढाल में सीधे और मित-व्ययी होने के कारण पूरे सुख से रहते हैं। यज्ञों को छोड़कर मदिरा कभी नहीं पीते। उनका शरबत चावल के माँड से बनाया जाता था। भोजन अधिकतर भात था।'* उसने यह भी लिखा है कि 'गृहपत्नि वर्ष के आरम्भ में ही वर्ष भर तक काम में आनेवाली, अन्न मसाला आदि वस्तुएँ संग्रह करती थी। वेष भूषा और शृङ्गार की सामग्री की भी कमी न थी। नागरिक सँवारे हुए बाल रखते थे, और समय-समय पर घोड़े पर चढ़कर गोष्ठियाँ मनाने के लिए बागों में जाया करते थे, जहाँ नाच रँग का भी सामान रहता था।' उसका यह भी कथन है कि भारतवासी सदाचार और सचाई की खूब प्रतिष्ठा करते हैं, बूढ़ों को भी तब तक विशेष अधिकार नहीं देते, जब तक उनकी वृत्ति उत्कृष्ट न हो।

---

* यह बात सम्भवतः पाटलीपुत्र (बिहार) के अनुभव के आधार पर लिखी गयी है। हम पहले बता चुके हैं कि यहाँ गेहूँ मूँग उड़द आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न पैदा होते थे, फलतः इस देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में भात के अतिरिक्त उनका भी उपभोग होता था।

नैतिक स्थिति--उपर्युक्त उद्धरणों से दो बातें स्पष्ट हैं, (१) भारतवासी सुखी, और सम्पन्न अवस्था में थे, (२) भारतवासियों की नैतिक स्थिति भी ऊँचे दर्जे की थी। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोनों बातों का मेल कैसे था ? बहुतसे पाठकों को इन दोनों बातों के एक साथ, एक ही समय होने में सन्देह हो सकता है, विशेषतया जब कि यह देखने में आता है कि यदि चोरी आदि के कुछ अपराध निर्धनों और असहायों में विशेष रूप से होते हैं तो कुछ अन्य अपराध और भी अधिक परिमाण में धनिकों में देखने में आते हैं। इस विषय का सम्यक् विचार करके आचार्य कौटल्य ने अर्थशास्त्र में प्रजा के सदाचार को उच्च बनाने के लिए बहुत जोर दिया है, और जिन लोगों पर इस बात का प्रभाव नहीं पड़ सकता था, उनके लिए उसने कठोर दंड की भी योजना की है।* इतिहास की साक्षी से जान पड़ता है कि आचार्य को अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता हुई। प्रजा का आदर्श इतना उच्च हो गया कि देश में अपराधियों का प्रायः अभाव सा हो गया।

हाँ, कुछ बातें ऐसी भी थीं, जो आधुनिक सभ्य समाज में अच्छी नहीं मानी जातीं, जैसे एक पुरुष का कई स्त्रियों से विवाह, पशुबलि और वेश्यागमन। आचार्य ने इनके नियन्त्रण या विरोध के लिए

---

* यद्यपि साधारणतया कठोर दंड की व्यवस्था के विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है, देशकाल के अनुसार विशेष परिस्थितियों में नीतिकारों ने सर्वत्र इसकी आवश्यकता अनुभव की है।

जो उपाय किये, उनका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। यद्यपि मेगस्थनीज़ भारतवर्ष में तलाक की प्रथा होने का उल्लेख नहीं करता, अर्थशास्त्र में इसके नियम मिलते हैं।

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि आचार्य के समय में साधारणतया भारतवासी ऊँचे दर्जे के नागरिक थे, उनकी आर्थिक और नैतिक स्थिति तो अच्छी थी ही, उन्होंने सामूहिक रूप से भी अपनी सभ्यता और शिष्टाचार का इतना विकास कर लिया था कि विदेशी उनसे प्रभावित होते थे।

छठा अध्याय

नगर और ग्राम

नगर और ग्रामों की दशा से भी लोगों की उपभोग सम्बन्धी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, अतः इस अध्याय में हम आचार्य के इस विषय सम्बन्धी विचार देते हैं।

नगर-निर्माण—आचार्य कौटल्य ने नगर निर्म्माण सम्बन्धी अपने विचार व्यौरेवार प्रकट किये हैं। इससे उसकी आदर्श नगर की कल्पना का परिचय मिलता है। साथ ही यह भी जानने में सहायता मिलती है कि उसके समय में नगरों की रचना किस तरह की होती होगी। स्मरण रहे कि उन दिनों (तथा अठारहवीं शताब्दी तक) नगर-रचना में युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं का यथेष्ट ध्यान रखा जाता

था, और इसलिए नगर किलों के रूप में बनाये जाते थे। मकान बनाने में ईंट और पत्थर के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार लकड़ी का उपयोग होता था। आचार्य ने लकड़ी के उपयोग का विरोध किया है। 'दुर्ग-विधान' के प्रकरण में वह कहता है कि प्राकार (परकोटा) लकड़ी का कभी नहीं बनवाना चाहिए, क्योंकि इसमें सदा अग्नि सन्निहित रहती है। आचार्य ने अग्नि से मकानों की रक्षा करने के विविध उपाय बतलाये हैं।

आचार्य ने लिखा है कि नगर चारों ओर एक प्राकार से घिरा होना चाहिए, जिसमें बारह द्वार हों। नगर में तीन रास्ते पूर्व से पश्चिम की ओर, और तीन रास्ते उत्तर से दक्षिण की ओर जाने-वाले बनाये जायँ। इन छः मार्गों में गृहनिर्माण के लिए भूमि का विभाग होना चाहिए। नगर के राजमार्ग और ऐसे मार्ग जो द्रोणमुख (तहसील) और स्थानीय (जिले) और राष्ट्र (प्रान्त) को तथा जंगलों को जानेवाले हों, आठ गज चौड़े रखे जावें। छावनी, श्मशान और गाँव को जाने के मार्ग इससे दुगने बनाये जायँ।* जनता के जाने-आने के मार्ग शुद्ध जल और भूमिवाले बनाये जायँ, जहाँ छिड़काव होता हो। इधर-उधर कुएँ प्याऊ आदि हों।

नगर की चारदिवारी के बाहर १८, २४ या २० गज चौड़ी तथा कम-से-कम २० फुट गहरी खाई खोदी जाय, जो सदा जल से भरी

---

* कौटल्य ने अन्य मार्गों की चौड़ायी भी निर्धारित की है। इस विषय का कुछ उल्लेख हमने 'व्यापार के मार्ग और साधन' अध्याय में किया है।

रहे और जिसमें मगरमच्छ आदि रहें। इस खाई से बाहर, आठ गज़ की दूरी पर एक और प्रकोटा बनाया जाना चाहिए, जो १२ गज़ ऊँचा और २४ गज़ चौड़ा हो। इस पर काँटेदार झाड़ियाँ और वृक्ष लगाये जायँ।

नगर के नवें भाग में मध्य से उत्तर की ओर, चारों वर्णों के लोगों के मकानों के बीच में, राजा का महल बनाया जाय। उसके पूर्वोत्तर भाग में आचार्य पुरोहित के रहने का तथा हवन और पानी का स्थान बनाया जाय और वहीं पर ही मंत्रियों के भी रहने के मकान हों। पूर्व-दक्षिण भाग में भोजनालय,. हस्ति-शाला तथा वस्तु भंडार; पूर्व में गन्ध, धान्य, रस की दुकानें, क्षत्रियों तथा प्रधान कारीगरों के मकान; दक्षिण-पूर्व में खज़ाना, आय-व्यय विभाग तथा कारखाने; दक्षिण-पश्चिम में जंगली पदार्थ भंडार तथा हथियार भंडार; इसके बाद दक्षिण में धान्य, व्यापार-व्यवसाय, कारखाने तथा सेना आदि के अध्यक्षों के मकान, मिठाई, पकवान, शराब, मांस आदि की दुकानें तथा वेश्यागृह; पश्चिम-दक्षिण में गधों, ऊँटों के रहने के स्थान तथा मेहनती मज़दूरों के मकान, पश्चिमोत्तर में घोड़ा, गाड़ी, रथ आदि की शाला; उसके आगे ऊन, सूत, बाँस, चाप, कवच, शस्त्र, आवरण आदि के कारीगरों के मकान, उत्तर-पश्चिम में दुकानें बाज़ार तथा दवाईखाने; उत्तर-पूर्व में कोष तथा गाय, घोड़े, इसके बाद उत्तर दिशा में नगर तथा राज-देवता के मन्दिर, धातु तथा हीरे जवाहरात के कारीगर और ब्राह्मण लोग; तथा बीच की गलियों में श्रेणी आदि व्यापारी व्यवसायिक तथा श्रमी संघों के मकान होने चाहिएँ।

इन नियमों के अनुसार नगर-निर्म्माण का चित्र बहुत सुन्दर होगा! कौटल्य के नगर-निर्म्माण सम्बन्धी विचार आधुनिक राजधानियों और छावनियों के लिए तो बहुत उपयोगी हैं ही, साधारण नगरों के लिए भी, उसकी सैनिक बातों को छोड़कर, अन्य बातों से कुछ-न-कुछ लाभ उठाया जा सकता है।

गाँव—आचार्य ने ग्रामों के विषय में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसका कथन है कि ग्रामों की सीमा (फासला) एक कोस से लेकर दो कोस तक हो। प्रत्येक ग्राम में सौ से लेकर पाँच सौ तक परिवार रहें। उनमें किसानों की संख्या अधिक हो। उनकी रचना इस प्रकार हो कि एक दूसरे की रक्षा कर सकें। नदी, पहाड़, जंगल, पेड़, नहर, तालाब आदि से उनकी सीमा नियत की जाय। वागुरिक, शबर, पुलिन्द, चाँडाल तथा जंगली लोग सीमा की देख रेख करें। कृषि योग्य भूमि के सिवाय गाँव के समीप गोचर भूमि छूटी रहे जिस पर गाँव के पशु चर सकें।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि गाँवों में गड़रिये, ग्वाले, कारीगर और दूकानदार आदि भी रहते थे। गाँववालों के आराम के लिए वहाँ तालाब, कुए, बगीचे, और रास्ते आदि या तो राज्य की ओर से बनवा दिये जाते थे, या इनके बनानेवालों की सहायता की जाती थी। कौटल्य ने लिखा है कि वानप्रस्थियों को छोड़कर कोई संन्यासी ग्राम में न बसे, न वहाँ कोई बड़ी व्यापारिक कम्पनी हो, और न कोई खेल-तमाशे के लिए रंगशाला आदि मकान ही बना सके। नट नर्तक, गायक वादक, तथा भाँड गाँववालों के काम में विघ्न न डालें। चोर,

शेर तथा जहरीले घातक जन्तुओं से चरागाहों तथा गोचर भूमियों की रक्षा का समुचित प्रबन्ध राज्य की ओर से रहे।

ग्राम संगठन में अनुराग रखने वाले सज्जन विचार करें कि वे अपने इस प्राचीन नीतिज्ञ और राष्ट्र सूत्रधार आचार्य के विचारों से कहाँ तक लाभ उठा सकते हैं।

सातवाँ अध्याय

दुरुपभोग का नियन्त्रण

यदि विचार कर देखा जाय तो प्रत्येक देश में बहुतसा धन व्यर्थ खर्च होता है, उससे राज्य या जनता का कुछ लाभ नहीं होता, वह भावी उत्पत्ति के लिए भी बाधक ही होता है। उदाहरण के लिए मद्यपान, वेश्यागमन, जुए और अनुचित दान-धर्म में किये गये खर्च लोगों की कार्यक्षमता का ह्रास करते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को यह विचार करना चाहिए कि दुरुपभोग की मात्रा यथासम्भव कम हो। इस अध्याय में हम यह विचार करेंगे कि कौटल्य ने अपने समय में दुरुपभोग की समस्या को किस प्रकार तथा कहाँ तक हल किया था।

मादक पदार्थों का सेवन—आचार्य ने शराब बनाने और बेचने के अतिरिक्त इसके उपभोग के नियम भी बहुत कठोर रखे हैं।

उसका आदेश है कि चार तोले शराब भी राजकीय आज्ञा के बिना केवल उस व्यक्ति को दी जाय जिसके आचार-विचार के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी हो। अपनी हैसियत से अधिक मद्यपान में खर्च करनेवाले व्यक्ति शराबखाने में ही पकड़ लिये जायँ। कौटल्य का नियम है कि शराब साधारणतया शराबखाने में ही पीयी जाय। आचार्य शराबखानों में राजकीय गुप्तचरों की भी योजना करता है।

जान पड़ता है कि उस समय शराब का प्रचार बहुत बढ़ गया था। इसलिए इस विषय में कौटल्य को एकाध रियायती नियम भी रखना पड़ा है। उदाहरणार्थ—उसने यह नियम करके भी मजदूरों को उनका वेतन सिक्के (तथा खाद्य पदार्थों) में दिया जाय, इस बात की व्यवस्था की है कि ऊँट, बैल या सुअर आदि के पालन-पोषण जैसे तुच्छ कार्यों के बदले में छोटे दर्जे के नौकर-चाकरों को घटिया शराब दे दी जाया करे। वह बढ़िया शराब तो अधिक मूल्य पर ही बेचने का नियम रखता है। वह इस बात की अनुमति नहीं देता कि कम मूल्य पर, उधार या अधिक व्याज पर भी बढ़िया शराब बेची जाय। यद्यपि समाज की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार वह बसन्त आदि के उत्सवों पर, तथा सामाजिक जलूस या विवाह-शादी आदि के अवसर पर, मद्यपान सम्बन्धी प्रतिबन्ध शिथिल करता है, किन्तु ऐसी अनुमति चार दिन से अधिक के लिए एक समय में किसी दशा में नहीं दी जाती। यदि इस प्रकार की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् कोई व्यक्ति अधिक दिन तक शराब पीवे तो उसे प्रत्येक

दिन के लिए दंड देना होता था। इस तरह आचार्य मद्यपान पर यथासम्भव नियंत्रण करता है।

सुलफा, चाय, अफीम आदि का उस समय उपभोग होता हुआ मालूम नहीं होता।

जुआ—ज्ञात होता है कि जुआ खेलने की रीति बहुत पुरानी है। इस समय सभी देशों में, भिन्न-भिन्न रूप में, जुए का चलन है। यद्यपि सरकार जुए के कुछ भेदों पर नियंत्रण करती है, और खिलाड़ियों को दंड देती है, तथापि अधिकारियों को लोभ या धोखा कहाँ नहीं दिया जाता! फिर, घुड़दौड़ या लाटरी आदि जुए के कई नये स्वरूप तो सरकारी अनुमति से ही प्रचलित होते हैं।

अस्तु, अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय यहाँ कौड़ियों और पासों से जुआ खेला जाता था। पशु (मेंढा आदि) और पक्षियों (मुर्गा, तीतर आदि) को लड़ा कर भी जुआ होता था। आचार्य कौटल्य ने इसे नियंत्रित करने के लिए कई नियम बनाये। वह लिखता है कि द्यूताध्यक्ष किसी एक नियत स्थान पर जुआ खेलने का प्रबन्ध करे। निश्चित स्थान को छोड़कर अन्य किसी जगह जुआ खेलनेवाले को बारह पण दंड दिया जाय। नियत स्थान पर जुआ खेलने का प्रबन्ध इसलिए किया जाता है कि जिससे छुक-छिपकर, जनता को धोखा देकर, ठगी से जीविका चलानेवालों का पता लग जाय। यदि कोई कपटपूर्वक जुआ खेले तो उसे दंड दिया जाय और उसके जीते हुये धन को छीन लिया जाय।

वेश्यागमन—यद्यपि उस समय भी कुछ स्त्रियाँ वेश्या वृत्ति करती थीं, और वे 'रूपा जीवा' (अपना रूप बेच कर आजीविका चलाने वाली) कही जाती थी, आचार्य के कठोर प्रतिबन्धों के कारण समाज में इस पर बहुत नियंत्रण रहता था, और यह बहुत परिमित अवस्था में था। कौटल्य स्त्री पुरुषों के अनुचित सम्बन्धों को बहुत दंडनीय घोषित करता है। वह निम्न श्रेणी की दासियों तक से, उनकी इच्छा से भी, विषय करनेवाले मनुष्यों को भी दंडनीय ठहराता है। इस प्रकार धन-सम्पन्न स्वामी भी व्यभिचार नहीं फैला सकते थे।

मनोरंजन; खेल-तमाशे आदि—मनुष्य हर समय किसी उत्पादक कार्य में नहीं लगे रह सकते। जैसे यन्त्रों को तेल दिये जाने की आवश्यकता होती है, वैसे ही मनुष्यों को भी समय-समय पर मनोरंजन करने की जरूरत पड़ती है। इससे उनका थकान दूर होता है और कार्य करने की शक्ति बढ़ती है। हाँ, अन्य बातों की तरह मनोरंजन मर्यादा के अन्दर ही होना ठीक है। उसकी अति होने से वह लाभदायक न होकर हानिकर हो जाता है। अस्तु, सम्राट चन्द्रगुप्त के समय में लोगों को मनोरंजन के विविध साधन प्राप्त थे। कई प्रकार के आदमी ऐसे थे, जिनका पेशा ही दूसरों का दिल बहलाना था। उदाहरणार्थ नट, नाचनेवाले, गानेवाले, बाजा बजानेवाले, अपनी वाणी द्वारा (या तरह-तरह की वाणी बोलकर) आजीविका कमाने वाले, मदारी आदि। इनके अतिरिक्त लोगों के दिलबहलाव के लिए 'आराम' अर्थात् बाग़-बग़ीचे आदि थे। कौटल्य ने लिखा है कि इन्हें

बनानेवालों को राजा भूमि आदि की सहायता दे। उसने चिड़ियाघरों और शिकारगाहों (शिकार खेलने के जंगलों) की भी व्यवस्था की है। परन्तु इसके साथ ही वह यह ध्यान रखता है कि लोग ऐसे मनोरंजन में न लगें कि उनके अन्य कार्यों में हानि हो। इसलिए वह आदेश करता है कि जनपद में सर्वसाधारण के विनोद के ऐसे स्थान या 'शाला' (नाटक-गृह आदि) न होनी चाहिएँ, जिनसे नट, नर्तक आदि जनता के कार्यों में विघ्न उपस्थित करें।

विदेशी वस्तुएँ—इनके उपभोग के नियंत्रण के सम्बन्ध में हमने कौटल्य के विचार 'विदेशी व्यापार' शीर्षक अध्याय बताये हैं। वह बाहर से केवल उन्हीं वस्तुओं के मंगाये जाने के पक्ष में है, जो यहाँ तैयार न हो सकती हों और जिनके उपभोग की अत्यन्त आवश्यकता हो। आजकल अनेक कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुएँ यहाँ विदेशों से आती हैं और उनके फल-स्वरूप हमें बहुतसा द्रव्य बाहर भेजना पड़ता है। कौटल्य ऐसी बातों के लिए कदापि अनुमति नहीं देता।

दान धर्म—भारतीय जनता में दान-धर्म की प्रवृत्ति सदा से से रही है। कौटल्य के समय में यहाँ विविध सम्प्रदायों के अनेक मठों, मंदिरों, जलाशयों और धर्मशालाओं, आदि का अस्तित्व था। ऐसे स्थान राज्य की ओर से भी बनाये जाते थे और प्रजा भी दया, धर्म या यश की कामना से इनमें योग देती थी। कौटल्य लिखता है कि "अपराजिता (दुर्गा), विष्णु, जयन्त और इन्द्र इन

देवताओं के मंदिर तथा शिव, वैश्रवण (वरुण), अश्विनी-कुमार, लक्ष्मी के गृह बनाये जायँ। इनमें अपने-अपने विचार या उस-उस देश के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं की स्थापना की जाय।" इस के अतिरिक्त, लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं के देवताओं तथा नगर-रक्षक देवताओं की उपासना किया करते थे। अनेक देवताओं की सोने चांदी के मूर्तियाँ बनायी जाती थीं। इससे इस मद्द के खर्च का कुछ अनुमान किया जा सकता है। लोकमत की अवहेलना करके, कौटल्य ऐसे खर्च को बन्द करने का आदेश नहीं करता, तथापि वह इसका राज्य के लिए उपयोग करता हुआ मालूम होता है। वह लिखता है कि किसी पाखंडी या समूह की सम्पत्ति को, तथा जिसमें से श्रोत्रियों को न मिलता हो ऐसे किसी मन्दिर की सम्पत्ति को, "यह उन मनुष्यों की सम्पत्ति है, जो मर गये हैं अथवा जिनके घर जल गये हैं," ऐसा सूचित करके राजा के आदमी जप्त करलें। देवताध्यक्ष दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं (देव मंदिरों) के आय-धन को यथोचित रूप से एक स्थान पर रखें और फिर राजकोष में जमा कर दिया करें।

उन दिनों लोगों का मंत्र-तंत्रों पर भी बहुत विश्वास था। लोग समझते थे कि भिन्न-भिन्न प्रकार की मंत्र-तंत्रसिद्धि से भिन्न-भिन्न कार्यों में सफलता मिल जाती है। कौटल्य ने इसका खंडन नहीं किया है, वरन् देशकाल के प्रवाह से उसने लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। उसने शत्रुओं पर विजय पाने के लिए ऐसे ढोंगी गुप्तचरों की व्यवस्था बतलायी है, जो

ऐसी युक्तियों का प्रयोग करें।

मालूम होता है, उस समय देश में वानप्रस्थी और संन्यासियों की खासी संख्या थी, और ये लोग कोई सार्वजनिक सेवा न करते हुए भी सर्वसाधारण गृहस्थों की सम्पत्ति पर ही निर्वाह करते थे। कौटल्य इस प्रथा को बन्द नहीं कर सकता था; तथापि, जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, उसने इस पर यथेष्ट नियंत्रण किया है।

मेले जलसे आदि—चन्द्रगुप्त काल में, समय-समय पर राज्य तथा प्रजा की ओर से विशेषकर दैवी आपत्तियों के निवारणार्थ धार्मिक मेले और जलूस निकाले जाते थे। यद्यपि कालान्तर में अशोक ने इन्हें अपव्ययी समझ कर इनके प्रतिबन्ध के लिए आज्ञाएँ निकालीं; तथापि कौटल्य ने इनके विरोध में कोई विशेष नियम नहीं लिखा। इससे अनुमान होता है कि या तो चन्द्रगुप्त के समय में इनमें अधिक व्यय न होता होगा, या राज्य ही प्रजा को प्रसन्न रखने तथा पिछली राज्य-क्रान्ति भुलाने के उद्देश्य से इन्हें जारी रखना उचित समझता होगा।

राजकीय सम्मान की प्राप्ति के लिए कौटल्य लोगों को खर्च करने की अनुमति देता है। उसका उद्देश्य इस प्रकार राजकोष की वृद्धि का एक विशेष साधन प्रस्तुत करना था।

मुकदमेबाजी—आजकल उन्नत देशों में बहुतसे आदमी मुकदमेबाजी में अपार द्रव्य खर्च करते हैं। यद्यपि धनवान आदमी इस खर्च को सुविधापूर्वक सहन कर लेते हैं, तथापि वह अपव्यय अथवा दुरुपभोग तो है ही। कुछ वर्षों से भारतवासी भी इस मद में बहुत

खर्च करने लगे हैं, और अनेक आदमी निर्धन होने के कारण इससे बहुत कष्ट पाते हैं। कौटल्य के समय में ऐसा न था। मेगस्थनीज के लेख का एक उद्धरण इस विषय में साक्षी-रूप है। वह तत्कालीन भारतीयों के सम्बन्ध में कहता है, 'उनके कानून और व्यवहार की सरलता इस बात से अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के मुकदमे नहीं होते। न वे मोहर और गवाही की जरूरत समझते हैं। वे एक-दूसरे के पास धरोहर रखकर आपस में विश्वास करते हैं। ये बातें सूचित करती हैं कि उनके भाव उदार और उत्कृष्ट हैं।'

अफसोस! अब ये बातें हवा हो गयीं। अस्तु, कौटल्य ने मुकदमे-बाजी बढ़ने नहीं दी, वरन् झूठे साक्षियों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था करके उसने इसे नियन्त्रित किया है। उसने शिक्षा की भाँति न्याय-कार्य को भी निश्शुल्क ही रखा है। बहुतसे अभियोग पंचायतों द्वारा ही तय हो जाते थे। निदान, आचार्य ने इस विषय के दुरुपभोग को यथासम्भव कम किया है।

आठवाँ अध्याय

धनोत्पत्ति के साधन

पिछले अध्यायों में उपभोग अर्थात् मनुष्यों की आवश्यकताओं का विचार किया गया। अब आचार्य कौटल्य के धनोत्पत्ति सम्बन्धी

विचारों पर प्रकाश डाला जाता है। पहले यह जान लेना आवश्यक है कि धनोत्पत्ति का अभिप्राय क्या है, और उसके साधन क्या-क्या होते हैं।

धनोत्पत्ति; उपयोगिता-वृद्धि—प्रायः मनुष्य अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन पैदा करते रहते हैं, परन्तु वे यह बहुत कम सोचते हैं कि धनोत्पत्ति का ठीक अर्थ क्या है। क्या मनुष्य कोई बिल्कुल नयी चीज़ पैदा कर सकता है? वास्तव में हम जो कुछ करते या कर सकते हैं, वह कोई सर्वथा नयी वस्तु उत्पन्न करना नहीं होता, वरन् किसी उत्पन्न वस्तु को पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बनाना होता है। इस प्रकार धनोत्पत्ति का आशय केवल उपयोगिता-वृद्धि है।❀

❀ संस्कृत में 'जन्म' शब्द का अर्थ प्रादुर्भाव है, अर्थात् जो वस्तु पीछे थी, वह सामने आई; 'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ ऊपर आना है, अर्थात् जो वस्तु नीचे दबी या छिपी हुई थी, वह ऊपर आ गयी; सृष्टि शब्द का अर्थ बाहर छोड़ना है, अर्थात् जिस वस्तु को भीतर छिपाकर रखा था, उसे बाहर निकाला। इन तीन शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में और कोई शब्द है नहीं। जिससे यह भ्रमात्मक भाव उत्पन्न हो सकता हो कि जो वस्तु पहले नहीं थी, उसका नया अस्तित्व हुआ। इसी प्रकार संस्कृत में 'नाश' शब्द का अर्थ 'अदर्शन' है, अर्थात् जो वस्तु सामने थी, वह छिप गयी। इससे स्पष्ट है कि जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसका स्थानान्तर, रूपान्तर और नामान्तर हो सकता है। इसी तत्त्व को भगवान श्रीकृष्ण ने 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' कहकर प्रकट किया है।

—कल्याण

उपयोगिता कई तरह बढ़ायी जाती है। अनेक दशाओं में वस्तु का रूप रंग या आकार आदि का परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तनों में खेती करना, खानों से खनिज पदार्थ निकालना, तालाब आदि से मछली पकड़ना, शिकार करना आदि शामिल है। सूत कातना, कपड़ा बुनना, कल-कारखानों में अन्य विविध पदार्थ तैयार करना भी ऐसे ही परिवर्तन हैं। व्यापार करने में स्थान-परिवर्तन होता है, इससे वस्तुएँ ऐसी जगह पहुंचायी जाती हैं, जहाँ उनको माँग अधिक होती है, अथवा, दूसरे शब्दो में, जहाँ वे अधिक उपयोगी होती हैं। कुछ वस्तुएँ विशेष समय के लिए संग्रह करके रखी जाती हैं, इससे उस समय उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। निदान, उपयोगिता-वृद्धि के विविध प्रकार हैं। किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ाने को आधुनिक अर्थशास्त्र में धनोत्पादन का कार्य कहा जाता है।

कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में धनोत्पत्ति की इस प्रकार कोई परिभाषा नहीं की है, तथापि उसने उत्पत्ति के विविध रूपों का विचार किया है।

धनोत्पत्ति के साधन—धनोत्पत्ति के क्या-क्या साधन हैं, यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। कल्पना करो कि अन्न उत्पन्न करना है। खेती के लिए भूमि चाहिए, किसान को हल चलाने, और पानी देने आदि में श्रम करना होगा, साथ ही उसे बीज, हल बैल आदि ऐसी चीजों की भी आवश्यकता होगी, जिन्हें उसकी पूँजी कहा जाता है। इन सब साधनों की उचित व्यवस्था करने से, कुछ समय में, अन्न की उत्पत्ति होगी।

इसी प्रकार कारखाने में तैयार होनेवाले माल के उदाहरण पर विचार किया जा सकता है। कारखाने के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। उसमें काम करनेवाले भिन्न-भिन्न योग्यता के आदमी अपने श्रम से विविध काम करते हैं। कारखाने में मशीन, इमारत और कोयले आदि की आवश्यकता होती है, जिन्हें हम पूँजी कहते हैं। फिर कारखाने का संचालन करने के लिए, भूमि श्रम और पूँजी जुटाने के लिए, कार्य में होनेवाले लाभ-हानि आदि का विचार करने के लिए, एक विशेष प्रकार की योग्यता की आवश्यकता होती है, इसे व्यवस्था कहते हैं।

पहिले धनोत्पत्ति के साधनों में व्यवस्था की पृथक् गणना नहीं की जाती थी। परन्तु आजकल, कारखानों में बहुतसे एकत्रित आदमियों द्वारा, बड़ी-बड़ी पूँजी से, बड़ी मात्रा में धनोत्पादन का कार्य किया जाता है। इससे प्रबन्ध या निरीक्षण की विशेष आवश्यकता होती है। पुनः कार्य बड़ा होने से उसके संचालन की जिम्मेदारी या जोखम अथवा साहस भी बहुत करना होता है। इस प्रकार व्यवस्था का महत्व बहुत बढ़ गया है। व्यवस्था में साहस और प्रबन्ध दोनों सम्मिलित समझे जाते हैं।

इस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मतानुसार धनोत्पत्ति के लिए चार साधनों की आवश्यकता होती है, (१) भूमि, (२) श्रम, (३) पूँजी, और (४) व्यवस्था। अगले अध्यायों में हम क्रमशः इस विषय पर प्रकाश डालेंगे कि आचार्य कौटल्य के, इन साधनों के सम्बन्ध में, क्या विचार हैं।

नवाँ अध्याय

भूमि

मनुष्य के काम में आनेवाले सब पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, भूमि से ही उत्पन्न होते हैं। धनोत्पत्ति में, पृथ्वी के ऊपर के तल के अतिरिक्त उसके भीतरी भाग (भू-गर्भ), देश के जल-वायु, वर्षा, नदी-नाले, पर्वत, समुद्र आदि का भी उपयोग होता है। अतः इन सब को भूमि के अन्तर्गत ही माना जाता है।

नयी भूमि बसाना--आचार्य कौटल्य ने 'जनपद निवेश' (नयी बस्ती बसाने) के प्रकरण में विस्तृत और समथल भूमि को उपयोगी कहा है, और सीमा स्थिर करने के लिए नदी, पहाड़, जगल विशेषतया सेमल, छोकरा (शमी या सफेद कीकर) और बड़ पीपल आदि दूधवाले पेड़ों की आवश्यकता बतलायी है। ये चीज़ें स्थायी अर्थात् देर में नष्ट होनेवाली हैं, और इनके नष्ट होने पर भी, पीछे किसी-न किसी रूप में इनकी स्मृति या चिन्ह बने रहते हैं। आचार्य ने लिखा है कि झरनों से, या दूर तक के वर्षा के पानी को इकट्ठा करके राज्य द्वारा, नहर और तालाब बनाये जायँ, और जो लोग स्वयं तालाब आदि बनावें उन्हें भूमि, मार्ग, तथा तृणादि अन्य आवश्यक वस्तुओं की सहायता दी जाय। इसी प्रकार, उसने लोगों के निजी तौर पर

आरम्भ किये हुए अपूर्ण कार्यों को भी राज्य की ओर से पूरा करना आवश्यक ठहराया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसकी दृष्टि में इन बातों की कितनी उपयोगिता थी। आचार्य तीर्थ (घाट), चौराहे, ठहरने के स्थान तथा बागों की भी आवश्यकता सूचित करता है।

आचार्य को नदी के तट, उनके संगम, कमलोंवाले जलाशय, एवं जल की सुविधावाली भूमि बहुत पसन्द है। वह नगरों के बसाने के सम्बन्ध में स्पष्ट सूचना करता है कि उनमें चारों ओर छोटी-छोटी नहरों के द्वारा जल-प्रवाह अवश्य रहना चाहिए। वास्तव में जल के अभाव में, भूमि की उपयोगिता बहुत कम रह जाती है। कौटल्य का मत है कि नगर के चारों ओर खायी इतनी गहरी खोदी जाय कि उसमें जल निकल आये। जल की शुद्धि के लिए वह जलचर जीवों को पालने, कमल आदि उत्पन्न करने और जल निकलने के मार्ग बनाने पर ज़ोर देता है। उसने खेती के लिए जलाशय बनाने के नियम बतलाये हैं।

नयी भूमि की उपयोगिता-वृद्धि—कौटल्य का मत है कि अपनी इच्छानुसार भूमि सम्बन्धी गुण बहुत-कुछ उत्पन्न किये जा सकते हैं, अर्थात् उसकी उपयोगिता बढ़ायी जा सकती है। इस प्रकार, नयी भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के लिए आचार्य ने उसकी हिंसक पशुओं से तथा जहरीले घातक जीवों से रक्षा करने का, तथा स्थान-स्थान पर चरागाहों और गोचर भूमि की व्यवस्था करने का विधान किया है। उसका मत है कि वागुरिक (साँप आदि पकड़नेवाले)

शबर और पुलिन्द आदि भील जातियां एवं चांडाल और अन्य जंगलों में घूमने फिरनेवाले आदमियों को किले में आश्रय देकर उनसे सीमान्त की रक्षा का कार्य लिया जाय।

उसकी दृष्टि में नदी, ताल और नहरों की उपयोगिता केवल सिंचाई की ही दृष्टि से नहीं है; वह उन्हें मछलियों और शाकों की पैदावार बढ़ाने के लिए भी आवश्यक मानता है। साथ ही उसने नयी आबादी के लिए तैयार की हुई भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के वास्ते स्थल मार्ग, जल मार्ग, और मंडियों की भी योजना की है। उसने इस प्रसंग में खान खोदने, कारखाने चलाने, जंगलों से लकड़ी और हाथी लाने, तथा पशुपालन की उत्तेजना देने का परामर्श दिया है। उसकी राय है कि नयी भूमि अधिकतर राजकर्मचारियों को ही दी जाय। सम्भवतः उसका यह विचार रहा हो कि राज्य के दबाव के कारण वे ऐसे स्थानों को, उन आपत्तियों से बचने के लिए न छोड़ भागेंगे, जो वहाँ अवश्यम्भावी होती हैं।

आचार्य ने ऐसे और भी नियम दिये हैं, जिनसे जंगलों को काटकर नयी भूमि को उपयोगी बनाने में प्रोत्साहन मिले। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

१—किसानों को जो जमीन दी जाय वह छीनी न जाय। जो किसान खेती न करें, उनसे लेकर दूसरे खेती करनेवालों को दे दी जाय।

२—गाँव की सेवा वृत्ति करनेवाले बढ़ई, लुहार या व्यापारी लोगों को जमीन खेती के लिए दे दी जाय।

३—जो खेती के लिए ज़मीन लेकर खेती न करें, उनसे हरजाना लिया जाय।

४—खेती करनेवाले को बीज, पशु तथा नकदी आदि के द्वारा सरकारी सहायता दी जाय।

५—नयी भूमि के काम में लगे हुए लोगों के स्वास्थ्य और बल बढ़ाने के लिए औषधि आदि की व्यवस्था की जाय।

६—नयी आबादी में बसे हुए बालक, बीमार, वृद्ध, अनाथ, आपद्ग्रस्त तथा नाबालिगों की रक्षा आदि का प्रबन्ध किया जाय।

७—नयी जमीन बसाने के वास्ते, लोगों की शक्ति का ह्रास न होने देने के लिए उनमें से किसी युवक या युवती को संन्यासी न होने दिया जाय। यही नहीं, कोई संन्यासी वहाँ रहे भी नहीं।

८—नयी आबादी के आदमियों में भोग-विलास की सामग्री और खेल-तमाशों की प्रवृत्ति न होने दी जाय तथा इन कामों को करनेवाले पेशेवरों को वहाँ न पहुँचने दिया जाय।

९—प्रायः सम्पूर्ण आबादी का आधा भाग या इससे भी अधिक शूद्र काश्तकारों का रखा जाय।

न जोती जानेवाली भूमि का उपयोग—जो भूमि जोती नहीं जाती या जा सकती, उसका भी आचार्य ने धन के रूप में उपयोग करना बतलाया है। उसने लिखा है कि ऐसी भूमि में पशुओं के लिए सार्वजनिक चरागाहों की व्यवस्था की जाय। शिक्षा

संस्थाएँ तथा वानप्रस्थियों के आश्रम बनाये जायँ, और ऐसे स्थानों को वृक्ष आदि से रक्षित और हिरण जैसे पशुओं से शोभित किया जाय। ये स्थान खूब लम्बे-चौड़े होने चाहिएँ। इनमें लम्बी-चौड़ी और गहरी खाइयों से सुरक्षित, स्वादु फल-फूलों से भरे हुए और कंटीले वृक्षों से रहित चिड़ियाघर बनाये जायँ। इनमें सीधे चौपाये, जैसे शेर चीते और हिंसक जन्तु जिनके नख और दन्त तोड़ दिये गये हों, हाथी हथिनी और अन्य अनेक तरह के पशु रखे जायँ और बड़े-बड़े तालाब बनवा-कर उनमें जल-पशु रखे जायँ। शिकार खेलने के स्थान के लिए सीमित भूमि छोड़ दी जाय। हाथियों के पालने का प्रबन्ध किया जाय और ऐसे स्थानों की सीमा पहाड़, झील या नदी-नाले आदि के रूप में बनायी जाय।

इन स्थानों की रक्षा के लिए कौटल्य ने विशेष प्रकार के दुर्गों की योजना की है। जिन्हें आज-कल प्राकृतिक सीमाएँ कहा जाता है, आचार्य उन्हें 'दैवकृत' कहता है। जलदुर्ग, पर्वत दुर्ग, वन दुर्ग और धान्वन दुर्ग (रेगिस्थान के किले) ये चार वह रक्षा के उपाय बतलाता है। वह इस बात को खूब समझता था कि आर्थिक दृष्टि से जल-दुग और पर्वत-दुर्ग अधिक लाभदायक हैं तथा युद्ध की दृष्टि से वन-दुर्ग तथा धान्वन दुर्ग महत्त्वपूर्ण हैं।

भूमि की उपयोगिता का तुलनात्मक विचार—कौटल्य ने इस विषय की अच्छी विवेचना की है कि किस भूमि की उपयोगिता दूसरी से कम या अधिक होती है। उसका मत है कि केवल वृष्टि पर निर्भर रहनेवाली भूमि की अपेक्षा नदी या तालाब आदि स्थायी

जलाशयों के पास की भूमि इसलिए अच्छी है कि वहाँ सदैव निश्चित रूप से फलादि की उत्पत्ति हो सकती है। ऊँची-नीची तथा कंकरीली पथरीली भूमि की अपेक्षा वह भूमि अच्छी है जो समथल हो, और ऋतु के अनुकूल थोड़ी वर्षा होने पर भी उपजाऊ हो, चाहे यह भूमि विस्तार में थोड़ी ही हो। जलाशय वाली भूमि में भी वही भूमि अच्छी है जहाँ अन्न आदि पैदा हों क्योंकि यदि उस में कुछ पैदावार नहीं होती तो उस की भी उपयोगिता प्रायः बहुत कम रह जाती है। यदि यह निर्णय करना हो कि अधिक विस्तारवाली भूमि अच्छी है या कम विस्तार वाली, तो कौटल्य अधिक विस्तारवाली भूमि को ही पसन्द करता है, क्योंकि उसमें कहीं जलाशय होंगे ही, या बनाये जा सकते हैं। उस पर स्थायी रहन-सहन के स्थान या कारखाने आदि बनाकर भी उसका उपयोग किया जा सकता है। आचार्य ने बतलाया है कि इनके अतिरिक्त कुछ और बातें भी भूमि की उपयोगिता घटाती-बढ़ाती हैं, जैसे उस के आसपास कैसे लोगों की आबादी है, पशु-सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में वहाँ कितनी सुविधाएँ हैं, उसके तैयार करने में कितना व्यय होगा इत्यादि।

वर्षा—भूमि की उत्पादन-शक्ति पर सिंचाई का बड़ा प्रभाव पड़ता है और सिंचाई का प्राकृतिक उपाय वर्षा है; अतः यहाँ कौटल्य के तत्सम्बन्धी विचार दिये जाते हैं। भारतवर्ष में वर्षा का समय बहुत-कुछ निश्चित है, अतः साधारणतया किसानों को इससे बड़ी सुविधा है। कौटल्य ने बतलाया है कि "वर्ष प्रमाण" नामक कुण्ड में एकत्रित जल को देखकर इस बात का निश्चय किया जा सकता है कि वर्षा

कितनी मात्रा में हुई है। उसने भूमि-भेद से इस बात का विवेचन किया है कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं की अच्छी फसल के लिए किस-किस भाग में कितनी वर्षा पर्याप्त मानी जा सकती है। उसने यह भी बतलाया है कि सूर्य मंडल, शुक्र, बृहस्पति की गति को, अथवा बादलों के रंग-ढङ्ग को, देखकर किस प्रकार कई मास पूर्व यह अनुमान हो सकता है कि वृष्टि उचित तथा लाभकारी होगी या नहीं।

इस सम्बन्ध में कौटल्य ने जो व्यौरेवार बातें लिखी हैं, उन्हें यहाँ विस्तार-भय नहीं लिखा जाता। इसमें सन्देह नहीं कि उन बातों से जहाँ आचार्य की तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय मिलता है, वहाँ यह भी भली-भाँति सिद्ध होता है कि भारतवर्ष ने अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व बड़े ऊँचे दर्जे की वैज्ञानिक, भौतिक तथा ज्योतिष सम्बन्धी उन्नति करली थी। अस्तु, यही नहीं कि यहाँ वर्षा से अधिकतम लाभ उठाया जाता था, वरन् प्राकृतिक स्थिति को अध्ययन करके यहाँ पहले से यह अनुमान कर लिया जाता था कि वर्षा कब और कितनी मात्रा में होगी। इससे खेत की तैयारी का समय जानने, और वर्षा का समुचित उपयोग करने में बड़ी सहायता मिलती थी।

जंगलों की तुलनात्मक उपयोगिता—अपने समय की परिस्थिति के अनुसार कौटल्य इस प्रश्न पर भी विचार करता है कि हाथियों के जङ्गल से लकड़ी आदि का जङ्गल अच्छा है या नहीं। कौटल्य से पूर्व भारतीय अर्थशास्त्री लकड़ी आदि के जङ्गल को ही अधिक पसन्द करते थे, कारण कि उसमें अनेक उपयोगी पदार्थ होते हैं, तथा वे सरलता से संचित किये जा सकते हैं; किन्तु हाथीवाले

जङ्गल के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। आचार्य कौटल्य ने इससे अपना मतभेद प्रकट किया है, उसकी राय है कि लकड़ी के जंगल की पैदावार तो अपनी इच्छानुसार पैदा की जा सकती है* परन्तु हाथियों के विषय में बात दूसरी है, वे किसी-किसी जंगल में ही होते हैं। राजनीतिज्ञ आचार्य ने हाथियों के सैनिक उपयोग को ध्यान में रखा है। उस समय हाथियों का मूल्य और माँग भी बहुत थी। यद्यपि आज-कल कहीं-कहीं घोड़े अपने जंगल से लाये जाकर दूसरे जंगलों में बढ़ा लिये गये हैं, किन्तु अभी यह प्रयोग पूर्णतया सफल नहीं कहा जा सकता; हाथियों के सम्बन्ध में तो ऐसा प्रयत्न होने की बात सुनने में ही नहीं आयी।

जंगलों से मिलनेवाली उपयोगी वस्तुएँ—यद्यपि कौटल्य की दृष्टि में हाथियों के जंगलों का महत्व विशेष है, तथापि वह अन्य जंगलों की उपयोगिता को विस्मरण नहीं करता। वह बतलाता है कि उनसे निम्नलिखित वस्तुएँ (कुप्य वर्ग) संग्रह की जानी चाहिएँ, तथा उनसे विविध वस्तुएँ बनवायी जानी चाहिएँ।

(क) सारदारु वर्ग, अर्थात् इमारत के काम में आनेवाली बढ़िया और मजबूत लकड़ी—सागून, तुन या तेंदुआ, पीपल, अर्जुन, महुआ, तिलक या फरास, साल, शीशम, कई प्रकार के बबूल, खिरनी, खैर, देवदार, ताल, साल, आम, कदम्ब, गूलर आदि।

---

* जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह ने यहाँ काबुल का अनार पैदा किया था। आजकल यहाँ कपूर के जंगल सफलता-पूर्वक लगाये गये हैं, और 'युकलिपटस' लगाने का प्रयत्न हो रहा है।

(ख) बांस (अर्थशास्त्र में इसके कई भेद गिनाये गये हैं)।

(ग) लता जैसे वेंत, शीक बल्ली (हँस बल्ली), वाशी, श्याम-लता, नागलता (नागर पान की वेल) आदि।

(घ) बल्क वर्ग अर्थात् जिन पेड़ों की छाल काम में आती है। इनमें चमेली, मूर्वा (मरोर फली, आख, सन, नागबला, अलसी आदि सम्मिलित हैं।

(च) रस्सी आदि बनाने का सामान मूँज, वल्वज या लवा (एक प्रकार की घास आदि।

(छ) पत्र या कागज का काम देनेवाला सामान, ताली और ताल (ताड़ के भेद) तथा भोजपत्र।

(ज) रंग के काम की चीज़ें, ढाक, कसूम, केसर।

(झ) औषधि वर्ग अर्थात् विविध प्रकार के कन्द मूल और फल।

(ट) विष (अर्थशास्त्र में जंगल में पैदा होनेवाले विषों के बहुत से भेद गिनाये गये हैं), तथा विष वर्ग अर्थात् साँप कीड़े, मेंढक, छिपकिली आदि विषैले जानवर, जो घड़े में बन्द किये जाकर विष की तरह काम में आ सकते हैं।

(ठ) गोह, चन्दन गोह, बघेरा, शिशुमार (घड़ियाल या नाका), सिंह, चीता, हाथी, भैंसा, चमर गाय, गेंडा, नीलगाय, हिरन आदि जंगली जानवरों से प्राप्त होनेवाली खाल, हड्डी, पित्ता स्नायु (जिससे ताँत बनती है), दाँत, सींग, खुर, पूँछ आदि।

फसलवाली और खानवाली भूमि—कौटल्य के मत से खान की अपेक्षा फसल पैदा करनेवाली जमीन अच्छी है, कारण कि

धान्य आदि की पैदावार से रुपया भी मिल ही सकता है, और खाने पीने की दिक्कतें भी दूर हो जाती है। किन्तु खान से केवल एक ही काम निकल सकता है, और खाद्य सामग्री के अभाव में समस्त सांसारिक व्यवहार ही बन्द हो जाता है। तथापि तीक्ष्णदर्शी आचार्य का मत है कि खानवाली भूमि बहुत विस्तारवाली हो तो वह अच्छी है, क्योंकि उससे खनिज वस्तु के व्यापार का एक स्वतन्त्र कार्य चल सकेगा।

खानों के दो भेद होते हैं स्थलीय और समुद्रीय। इनसे मिलने-वाली वस्तुओं का उल्लेख, अर्थशास्त्र में इस प्रकार हुआ है:—लोहा (जिसमें काला लोहा, ताँबा, काँसा, सीसा, राँगा, पीतल, और लोहे के अन्य भेद सम्मिलित हैं), शुद्ध दशा में प्राप्त हुआ, रसविद्ध अर्थात् रसायन द्वारा बनाया हुआ, और आकरोद्गत अर्थात् खान से निकलने-वाला अशुद्ध सोना; रंग के भेद से इसकी पाँच किस्में बतायी गयी हैं। सोने को अन्य धातुओं के मेल से और भी कई प्रकार का बनाया जाता था, जो आजकल के 'रोल्ड गोल्ड' आदि के ढङ्ग का होता होगा। चाँदी भी कई प्रकार की बतायी गयी है।

मोती उत्पत्ति-भेद से तीन प्रकार का, सीप, या शंख, हाथी और साँप आदि से प्राप्त होनेवाला, तथा स्थान के भेद से दस तरह का बताया गया है। मणि उत्पत्ति-स्थान के भेद से तीन तरह की, और रंग के भेद से पाँच तरह की, बतायी गयी है। नीलम रंग के भेद से आठ प्रकार का बताया गया है। हीरा उत्पत्ति-स्थान के भेद से छः तरह का, और रंग-भेद से अनेक तरह का बताया गया है। मूँगा उत्पत्ति-स्थान के

भेद से दो तरह का बताया गया है।

भारतभूमि चिरकाल से रत्नगर्भा प्रसिद्ध रही है। अबभी यहाँ विविध पदार्थ पाये जाते हैं। कुछ समय से वे अधिकाधिक मात्रा में निकाले जा रहे हैं, परन्तु उनके निकालने का काम अधिकतर विदेशियों के हाथ में है। हमारी खानें खाली हो रही हैं और उनका उपयोग इस देश के हित को लक्ष्य में रखकर नहीं किया जा रहा है। कौटल्य के समय में ऐसा नहीं होता था, न हो ही सकता था।

समुद्र तट—आचार्य समुद्र और समुद्र-तट के आर्थिक महत्व को खूब समझता था। उसने मोतियों और अन्य प्रकार के बहुमूल्य जवाहरात की उत्पत्ति के दस स्थानों का उल्लेख किया है, उनमें भारतीय समुद्र-तट के अतिरिक्त सिंहल द्वीप, ईरान, बर्बर (सम्भवतः अफ्रीका का किनारा), मलाया और यूनान आदि देशों के समुद्र-तट गिनाये हैं।

भूमि का विस्तार—कौटल्य ने भूमि सम्बन्धी विविध बातें अधिकतर भारतवर्ष को ही लक्ष्य में रखकर बतलायी हैं। अतः यह जान लेना उपयोगी होगा कि उसके समय में कितनी भूमि इस देश के अन्तर्गत मानी जाती थी। विदित हो कि भारतवर्ष के पश्चिम में चन्द्रगुप्त का राज्य, काठियावाड़ तक फैला हुआ था। वहाँ उस समय चन्द्रगुप्त की ओर से पुष्पगुप्त गवर्नर का काम करता था। इतिहास-लेखक स्मिथ के अनुसार सेल्यूकस से सन्धि हो जाने के पश्चात् सन् ३०३ ई० पूर्व के लगभग सम्पूर्ण पञ्जाब, काबुल, हिरात, कंधार और मकरान तक का प्रान्त चन्द्रगुप्त के राज्य में शामिल हो

चुका था* अर्थात् उसके राज्य का एक विशिष्ट भाग सिन्धु तथा हिन्दू-कुश पर्वत के दूसरी ओर अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और ईरान तक फैला हुआ था। यह नहीं कहा जा सकता कि उसके राज्य की दक्षिणी सीमा क्या थी। हाँ, स्मिथ ने यह लिखा है कि अशोक के समय में, मौर्य राज्य वर्तमान मैसूर तक था, साथ ही उसका यह भी कथन है कि अशोक ने कलिंग (उड़ीसा) प्रान्त के सिवाय और कोई विजय भी नहीं की। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि दक्षिण का नर्मदा पार का शेष भाग भी (पांड्य आदि तत्कालीन दो एक छोटे-मोटे राज्यों को छोड़ कर) चन्द्रगुप्त के समय में ही मौर्य राज्य में मिल गये होंगे। पूर्व में, इस राज्य की सीमा स्मिथ ने बंगाल-सागर तक स्वीकार की है। इस प्रकार केवल दक्षिण में भारतवर्ष का थोड़ासा भाग उस राज्य की सीमा से बाहर था, और पूर्व में तो वह राज्य वर्तमान भारत से कहीं अधिक विस्तृत था।

भूमि की नाप जोख—भूमि के यथेष्ट उपयोगी होने के लिए उसकी नाप-जोख होना आवश्यक है। अर्थशास्त्र में खेतों को नापने और सीमा द्वारा विभाजित करने की पद्धति भी बतलायी गयी है। कौटल्य ने खेतों की नपाई के लिए साधारणतया वे ही पैमाने स्वीकार किये हैं जो और वस्तुओं को नापने के लिए काम में आते थे; हाँ कहीं-कहीं कुछ भेद भी कर दिया है। उस समय साधारण नाप की इकाई 'वितस्ति' (बीता या बलिश्त) मानी जाती थी। यह बारह अंगुल की

---

*स्मिथ ने चन्द्रगुप्त का शासन-काल सन् ३२२ ईसा पूर्व से २९८ ईसा पूर्व तक स्वीकार किया है।

होती थी। दो वितस्ति अर्थात् २४ अंगुल का एक हाथ होता था, इसे प्रजापत्य हाथ कहते थे। इसके आगे के पैमाने इस प्रकार थे:—

४ हाथ	= १ दंड
१० दंड	= १ रज्जू (गट्ठा या जरीब)
२ रज्जू	= १ परिदेश
१½ परिदेश (तीस दंड)	= १ निवर्तन
६६⅔ निवर्तन या दो हजार धनु (दंड)	= १ गोरुत या कोस
४ गोरुत	= १ योजन

जिस परिमाण में लम्बाई-चौड़ाई एकसी न होकर, एक ओर तीस दंड, और एक ओर बत्तीस दंड हो, उस परिमाण को 'बाहु' कहते थे।

चरागाह नापने में एक हाथ २४ के बजाय २८ अंगुल का समझा जाता था। जंगल नापने के लिए एक हाथ की लम्बाई ५४ अंगुल प्रचलित थी। जो भूमि ब्रह्मदेय या माफी की होती थी, उसमें एक दंड छः कंस अर्थात् १९२ अंगुल का माना जाता था।

आचार्य के भूमि सम्बन्धी विचारों को यहाँ समाप्त करके, अब अगले अध्याय में हम उसके श्रम सम्बन्धी विचारों का परिचय देंगे।

दसवाँ अध्याय

श्रम या जनता

भूमि से स्वयं बहुत थोड़े, सो भी कच्चे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन्हें भी संग्रह करके रखने या अधिक उपयोगी बनाने के लिए श्रम

की आवश्यकता होती है। फिर जो पदार्थ भूमि से स्वयं उत्पन्न नहीं होते उनकी तो उत्पत्ति के लिए ही श्रम की आवश्यकता अनिवार्य है। स्मरण रहे कि श्रम से अभिप्राय मानवी श्रम से होता है, और इसमें शारीरिक बल के अतिरिक्त मनुष्यों के मानसिक कार्य, आचार-विचार, ज्ञान, ज्ञान कौशल, व्यवहार, धर्म, रीति, रहन-सहन आदि सम्बन्धी वह समस्त योग्यता समझी जाती है, जो धनोत्पादन में सहायक हो। आचार्य कौटल्य के जनता सम्बन्धी अन्य विचार जानने से पूर्व उसके जनसंख्या विषयक विचार जानलेना उपयोगी है।

जन संख्या——आचार्य कौटल्य ने इस विषय का वैज्ञानिक रीति से सम्यक् विचार किया है। उसने लिखा है कि ग्रामों और नगरों का आर्थिक दृष्टि से वर्गीकरण किया जाय। मकानों की, एवं भिन्न-भिन्न वर्णों और पेशे के मनुष्यों की गणना हो। मनुष्य-गणना में किसान, ग्वाले, बनजारे, कारीगर, मजदूर और दास तथा इनके भेदात्मक शीर्षक नियत किये जायँ। साथ ही पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा सम्बन्धी योग्यता, उनकी आयु, काम, पेशा, आय व्यय के साधन भी लिखे जायँ। नगरों की आबादी देखने के लिए जो रजिस्टर तैयार किये जायँ, उनमें लोगों की जाति तथा गोत्रों के नाम भी दर्ज किये जायँ। यद्यपि अर्थशास्त्र से यह प्रकट नहीं होता कि यह गणना कितने-कितने समय के अन्तर से हुआ करती थी किन्तु सम्पूर्ण विषय को ध्यान में रखने से यही अनुमान होता है कि उक्त रजिस्टर जन्म-मरण के लेखे के साथ मिलान करके हर समय पूर्णतः तैयार (Up-to-date) रखे जाते थे।

अस्तु, अब हम तनिक यह भी जानलें कि जनता की वृद्धि के विषय में आचार्य का क्या मत था।

जनता की वृद्धि—आचार्य देश की जनसंख्या की वृद्धि को अच्छा समझता था, कारण कि उसके मत से लोगों के विविध कार्यों से राजा तथा राज्य को सुख-समृद्धि प्राप्त होना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में हमें स्मरण रखना चाहिए कि उसके समय में लोगों को आजकल की तरह दरिद्रता और आर्थिक चिन्ता का जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता था। खाने-पहनने की विपुल सामग्री देश में उत्पन्न होती थी। पिछले अध्याय से यह तो मालूम हो ही गया कि नयी भूमि तलाश करके उसे उत्पादक बनाने की ओर राज्य का यथेष्ट ध्यान था। इसलिए उन दिनों राजा और प्रजा अत्यधिक जनता के भय से मुक्त थे। उन्हें सन्तति-निरोध की आवश्यकता न थी, यदि आवश्यकता थी तो जनसंख्या की वृद्धि की। इसी आवश्यकता के विचार से उस समय बहु-विवाह की प्रथा थी, और कौटल्य ने इसका विरोध नहीं किया है। वह कहता है कि पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता है; स्त्रियाँ सन्तानोत्पत्ति के लिए हैं। अवश्य ही सन्तान हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ होनी चाहिए, न कि क्षुधा-पीड़ित, अस्थि-पिंजर-मात्र, जैसी कि आजकल भारत में प्राय: देखने में आती है।

आजकल सभ्य जातियों में बहु-विवाह की प्रथा प्राय: उठ रही है। धनी और शौकीन स्त्री-पुरुष माता-पिता बनने के उत्तरदायित्व से बचना चाहते हैं, और निर्धन आदमी आर्थिक चिन्ताओं के कारण सन्तान का यथेष्ट स्वागत करने में असमर्थ होते हैं। ऐसी दशा में

कौटल्य के ये विचार पाठकों की कटु आलोचना के पात्र होने स्वाभाविक हैं। परन्तु किसी महापुरुष के वाक्यों की, तत्कालीन स्थिति का विचार किये बिना, आलोचना करना उचित नहीं है। आचार्य के ध्यान में जनता की वृद्धि का प्रश्न विशेष रूप से रहा है।*

श्रमजीवियों के भेद—कौटलीय अर्थशास्त्र में किसी एक स्थान पर श्रमजीवियों का पूर्णरूप से वर्गीकरण नहीं किया गया है, और आजकल जैसा सूक्ष्म वर्गीकरण उस समय प्रचलित भी नहीं था। आचार्य ने उनके निम्नलिखित भेदों का उल्लेख किया है :—

(१) कारीगर जिनमें रुई, ऊन, और रेशमी वस्त्र बुननेवाले शामिल हैं।

(२) खान सम्बन्धी काम करनेवाले, जिनमें धातु शोधनेवाले भी सम्मिलित हैं।

(३) धातुओं के आभूषण तथा पात्र आदि बनानेवाले; इनमें तांबा, पीतल, कस्कुट (कांसा) आदि के बर्तन बनानेवाले भी शामिल हैं।

---

* इटली के भाग्य-प्रवर्तक मुसोलिनी का मत है कि राष्ट्रीय संगठन का सबसे बड़ा साधन जन-संख्या को बढ़ाते रहना है। उसने एक बार स्त्रियों की सभा में कहा था, 'बहनो ! इस शताब्दी के अपरार्द्ध में इटली को छः करोड़ की जन-संख्या लेकर प्रवेश करना होगा।' इटली की जन-संख्या सन् १६३१ में ४११ लाख थी। प्रत्येक राष्ट्र के सूत्र-संचालकों को देश-काल का विचार करके इस विषय में अपनी नीति स्थिर करनी चाहिए। हाँ, बहुविवाह की प्रथा साधारणतया त्याज्य ही है।

(४) बढ़ई।

(५) सूत्रकार, मकानादि बनानेवाले।

(६) कुम्हार, धोबी, रंगरेज, बाँस की चीज बनानेवाले, खोंचा आदि बेचनेवाले।

(७) राज्य की सेवा करनेवाले, सैनिक, छोटे कर्मचारी मोहरिर आदि तथा गाँव के नौकर, चौकीदार आदि।

(८) वैद्य, चिकित्सक।

(९) पुरोहित और ज्योतिषी।

(१०) गाने-बजाने का पेशा करनेवाले नट, कुशीलव आदि;

(११) विविध, स्नानागार के नौकर, नायी, सफाई का काम करनेवाले, समाचार लाने-लेजानेवाले;

इनके अतिरिक्त खेतों में मज़दूरी करनेवाले और घरों में काम करके दैनिक वेतन पानेवाले आदि गिने चाहिएँ।

शिक्षा—देश की तत्कालीन सम्पन्नता और विलासिता से कला-कौशल के जिस विकास का अनुमान होता है वह नियम-पूर्वक शिक्षण के बिना स्थायी नहीं हो सकता था। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि उस समय श्रमियों की शिक्षा का प्रबन्ध मुख्यतया दो प्रकार से होता था, अर्थात् मज़दूर-संघों के द्वारा और अध्यक्षों के द्वारा। भिन्न-भिन्न पेशेवालों के संघ उस पेशे सम्बन्धी शिक्षा की व्यवस्था किया करते थे और विविध सरकारी विभागों के अध्यक्ष अपने कार्यों का संचालन करने के लिए बहुतसे श्रमियों को वेतन पर रखकर उनसे काम कराते, तथा उन्हें अनेक वस्तुएँ बनाने की शिक्षा देते थे।

आचार्य ने उस शिक्षा की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है, जो वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत है। प्राचीन नीति के अनुसार यहाँ द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिए पढ़ना आवश्यक अर्थात् अनिवार्य है। समाज पहले इस सार्वजनिक शिक्षा का महत्त्व भलीभांति समझता था और वह गुरुकुल, आचार्यकुल या ऋषिकुलों आदि की यथेष्ट व्यवस्था करता था। राज्य इन संस्थाओं को समय-समय पर भूमि या अन्न आदि के रूप में सहायता प्रदान करता था और इनकी सम्पत्ति को कर-मुक्त रखता था। विशेष विद्वानों को, चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हों, राज्य की ओर से केवल उनके सत्कारार्थ अच्छी वृत्ति दी जाया करती थी। आचार्य कौटल्य ने इस वृत्ति को 'पूजा वेतन' संज्ञा दी है। सम्भव है कुछ शिक्षा-संस्थाएँ राज्य के अधीन भी कार्य करती हों। भारतवर्ष के तक्षशिला आदि स्थानों के विश्वविद्यालय दूर-दूर तक विख्यात थे।

अर्थशास्त्र में ऐसी कोई बात नहीं पायी जाती, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि आचार्य शूद्र, अतिशूद्र, दास, म्लेच्छ या स्त्रियों की शिक्षा के विरुद्ध था; प्रत्युत वह तो पुलिन्द, शबर, चांडाल, किरात आदि जंगली जातियों को भी शिक्षित करके उनसे उपयोगी कार्य लेने के पक्ष में था। उसने स्थान-स्थान पर बेकार और बदचलन स्त्री पुरुषों को उपयोगी कार्यों में लगाये जाने की योजना करते हुए शिक्षा-कार्य को उत्तेजना दी है।

स्वास्थ्य और चिकित्सा—मनुष्य श्रम तभी अच्छी तरह कर सकते हैं, जब उनका स्वास्थ्य ठीक हो, एवं उनके अस्वस्थ होने

की दशा में उनकी चिकित्सा की यथेष्ट व्यवस्था हो। यही कारण है कि धनोत्पत्ति का कार्य निर्विघ्न चलता रखने के लिए नागरिकों के स्वास्थ्य और चिकित्सा के विषय में समुचित ध्यान दिया जाना आवश्यक होता है। कौटल्य भी इस ओर उदासीन न था। उसकी सम्मति में खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना या नकली चीजें बेचना असह्य अपराध था। उसने धान्य, घी, तेल आदि, क्षार (गुड़ खांड आदि), नमक, सुगन्धित द्रव्य और औषधियों में उसी तरह की कम कीमत की वस्तुओं की मिलावट रोकने के नियम विशेष रूप से प्रचलित किये थे। इसी प्रकार सफाई की दृष्टि से आचार्य राजमार्ग, मंदिर, विद्यालय आदि पुण्यस्थानों, कुएँ, तालाब आदि जल-स्थानों और सरकारी इमारतों के पास कूड़ा, कीच या पानी आदि डालकर रास्तों को रोकना अथवा इन स्थानों पर मलमूत्र डालना या बिलाव, कुत्ता, नेवला साँप, गधा, ऊँट, खच्चर घोड़ा और मनुष्य की लाश डाल देना निंदनीय ठहराता है। वह तो मुर्दों को लेजाने का मार्ग भी अलग बनाने की सलाह देता जान पड़ता है। उसने नगर-निर्म्माण सम्बन्धी नियम इस प्रकार बनाये हैं कि वायु की गति उस दिशा से बची रहे, जिसमें गन्दे और मैले काम करनेवाले मनुष्यों की आबादी हो। स्वास्थ्य का ऐसा विकसित विचार आधुनिक म्यूनिसपैलटियाँ भी कार्य में परिणत नहीं कर रही हैं। शिल्पशालाओं, मद्य और मांस की दूकानों और अन्य सार्वजानिक स्थानों के विषय में भी उसने ऐसे ही नियम बनाये हैं। 'नागरिक' (नगर-अधिकारी) को विशेष रूप से नाली मोरी और जलाशयों आदि की देखभाल करनी होती थी।

निदान, आचार्य ने इस बात का यथेष्ट विचार किया है कि जनता में यथा-सम्भव कोई रोग होने ही न पावे। परन्तु उसने सार्वजनिक चिकित्सा की भी उपेक्षा नहीं की है। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि नगराध्यक्ष और ग्रामाध्यक्ष औषधियाँ बाँटनेवाले वैद्यों का समुचित प्रबन्ध करते थे।

श्रमजीवियों की उन्नति—शिक्षा स्वास्थ्यादि की व्यवस्था करने के अतिरिक्त, आचार्य ने इस बात पर भी यथेष्ट ध्यान दिया है कि श्रमजीवी मद्यपान, वेश्यागमन और विलासिता के दूषित प्रभाव से रक्षित रहें। मद्यपान और वेश्यागमन के विरोध या नियंत्रण सम्बन्धी, आचार्य के विचार अन्यत्र 'दुरुपभोग का नियंत्रण' अध्याय में दिये गये हैं। तमाखू, सिग्रेट, बीड़ी, चाय आदि ऐसी वस्तुओं का प्रचार उस समय हुआ नहीं जान पड़ता, जो आजकल श्रमजीवियों में शीघ्रता से घुसी जा रही हैं। इसलिए इनके सम्बन्ध में कौटल्य के नियम न मिलें तो आश्चर्य ही क्या है।

श्रमजीवियों को काम में लगाये रखने के विचार से आचार्य ने व्यवस्था की है कि खेल-तमाशेवाले इन लोगों में न आने जाने पावें। अर्थशास्त्र के 'दुर्गनिवेश' प्रकरण में वह मजदूरों की आबादी पश्चिम में ऐसे स्थान पर होने का नियम बनाता है, जहाँ निकट ही अश्वशाला, गज शाला, रथ शाला, और उसके बराबर में ऊन, सूत, बाँस, चमड़ा कवच, शस्त्र, कम्बल आदि के कारीगरों की आबादी हो। इस तरह वह मज़दूरों को खेल-कूद में समय बिताने के लिए एकान्त में नहीं रहने देता। उसने इस बात की भी व्यवस्था की है कि श्रमजीवियों को,

काम समय पर अच्छा करने की दशा में, इनाम आदि मिलता रहे, जिससे वे प्रोत्साहित होकर अपने क्षेत्र में उन्नति करें।

श्रम विभाग—भारतवर्ष में सीधे सादे श्रम विभाग की प्रथा बहुत समय से है। स्त्रियों का, घर का काम करना, और पुरुषों का, बाहर जाकर आजीविका प्राप्त करना एक प्रकार का श्रम-विभाग ही है। कौटल्य ने आवश्यकतानुसार स्त्रियों की आजीविका-प्राप्ति की भी व्यवस्था की है, जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। भारतवर्ष की वर्णाश्रम व्यवस्था श्रम विभाग का ही एक स्थूल रूप है। आचार्य इसे उपयोगी मानता है, और कहता है कि इसके भंग करने से समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है।

साधारणतया ब्राह्मणों का कार्य शिक्षा-प्रचार, क्षत्रियों का देश-रक्षा, और वैश्यों का कृषि, पशु-पालन और व्यापार, एवं शूद्रों का सेवा करना माना जाता है। परन्तु आचार्य अंतिम दो वर्णों से युद्ध-कार्य भी लेने के पक्ष में है। उसका मत है कि साधारणतया ब्राह्मण अच्छे योद्धा नहीं होते, क्योंकि शत्रु सिर झुकाकर प्रणाम करके तथा खुशामद आदि से उन्हें वश में कर सकता है; यह बात वैश्यों और शूद्रों में नहीं होती, वे अच्छे योद्धा हो सकते हैं। युद्ध विद्या सीखे हुए क्षत्री तो सर्वोत्तम योद्धा होते ही हैं। शूद्रों के कर्तव्यों में आचार्य ने द्विजातियों की सेवा के अतिरिक्त, खेती, पशु-पालन, व्यापार, कला कौशल, गाना बजाना आदि भी सम्मिलित किया है।*

---

*इससे प्रतीत होता है कि आचार्य ने जाति-भेद को आजकल की भांति कठोर रूप में नहीं माना था, अथवा जाति भेद का आधुनिक स्वरूप कौटल्य के बाद प्राप्त हुआ है।

अर्थशास्त्र से विदित होता है कि प्राचीन काल में यहाँ वागुरिक, शबर, पुलिन्द और चाँडाल आदि जातियों के आदमी ऐसे विश्वसनीय माने जाते थे कि उन्हें पहरेदारी तक का भार दे दिया जाता था। किरात आदि असभ्य माने जानेवाले आदमियों को गुप्तचर आदि का भी कार्य सिखाया जाता था। इस प्रकार भारत के प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने ऐसी व्यवस्था की थी कि समाज के सब अंगों को अपनी विविध शक्तियों के समुचित विकास का अवसर मिले; सब लोग राष्ट्र के कार्य में सहयोग करें, कोई अनुपयोगी न रहे। प्राचीन अर्थशास्त्र की यह विशेषता स्मरण रखने योग्य है।

यह तो हुई वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी बात। आश्रम धर्म को भी आचार्य साधारणतः स्वीकार करता है, परन्तु जान पड़ता है कि उसके समय में वानप्रस्थ आश्रमवाले अपने महान उद्देश्य को छोड़कर, आर्थिक दृष्टि से, समाज के लिए हानिकारक बन रहे थे। कौटल्य उनकी गणना निर्धन, अशिक्षित और शूद्रों के साथ करता है, और शायद उन्हें अधिक उपयोगी बनाने के लिए ही उनको जासूसी जैसे राजकीय सेवा-कार्य में लगाये जाने की सलाह देता है।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय प्रायः अधिकांश संन्यासियों में भी दुराचार आलस्य आदि दोष आ गये थे, और आचार्य को इन सब बुराइयों को दूर करने की चिन्ता थी। अतः उसने इस विषय के आवश्यक नियम दिये हैं। उसका आदेश है कि किसी आदमी को संन्यास या वानप्रस्थ लेने की अनुमति उसी दशा में मिले, जब वह बहुत वृद्ध हो जाय, अथवा वह अपने परिवार के भरण-पोषण की

पूरी व्यवस्था कर दे। स्त्रियों को संन्यास लेने की प्रेरणा करने वालों को दंड दिया जाय।❀

अस्तु, प्राचीन भारत में श्रम-विभाग स्थूल रूप में प्रचलित था। आचार्य कौटल्य ने इसी का समर्थन किया है। परन्तु आजकल इसके बहुत सूक्ष्म भेद कर दिये गये हैं। उदाहरणवत् आधुनिक कारखानों में कपास को ओटकर बिनौले अलग करने, रुई धुनने, सूत कातने, कपड़ा बुनने आदि के अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न कार्य करनेवाले श्रमी रहते हैं। इस विकसित श्रम विभाग के सहारे ही आजकल बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होती है। इस पद्धति में श्रमियों का कष्ट दूर करने और उनका समय बचाने की बड़ी क्षमता है परन्तु इससे होनेवाली धन-वितरण की असमानता के कारण आजकल पूँजीपति और मजदूरों के बड़े कलह और झगड़े होते हैं। इस विषय में विशेष विचार धन-वितरण के प्रसंग में किया जायगा।

स्त्रियों का श्रम—आचार्य ने स्त्रियों के श्रम पर भी यथेष्ट विचार किया है। उसने बतलाया है कि स्त्रियों से उनकी सुविधानुसार रुई, ऊन या रेशम का सूत कतवाया जाय, या जंगलों में काम कराया जाय। वह दासी, नटी, या कुमार्ग में प्रवृत्त स्त्रियों को ललित कलाओं

❀ ऐसा जान पड़ता है कि उस समय वानप्रस्थ संन्यास आश्रम की गिरी हुई दशा के सुधार में कौटल्य को विशेष सफलता नहीं मिली। हम देखते हैं कि अशोक के समय में भी यह प्रश्न इतना आवश्यक बना हुआ था कि उसने अपने आदेशों में स्थान-स्थान पर अन्यान्य लोगों के अतिरिक्त पाखंडियों और संन्यासियों के सुधार पर यथेष्ट बल दिया है।

में लगा देना उपयोगी और आवश्यक समझता था। ऐसे कार्यों की शिक्षा देने और व्यवस्था करने के लिए वह सरकारी सहायता दी जाने का अनुरोध करता है। उसने स्त्रियों को गुप्तचर विभाग में नियुक्त होने का भी मार्ग प्रशस्त किया है। विधवा, अनाथ या निर्धन स्त्रियों के लिए धाय या रोगी परिचारिकाओं का काम खोलकर कौटल्य ने उनके चरित्र रक्षा की महत्वपूर्ण योजना की है।

उसने स्त्रियों के लिए शस्त्र धारण करके राजा, रईस या सरदारों के यहाँ पहरा देने का भी काम निकाला था। ❀

अनाथ और भिक्षुक आदि—देश में श्रम की न्यूनता न होने देने के लिए कौटल्य ने इस बात की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है कि अनाथों और भिक्षुकों की संख्या यथासम्भव नियमित रहे। उसने यह व्यवस्था की कि यदि कोई आदमी आलस्य या आरामतलबी के कारण धनोपार्जन के कार्य से विमुख रहे, अपने स्त्री-बच्चों को छोड़ दे, या उनका भरण-पोषण न करे, या अपने नाबालिग छोटे भाई-बहिन की चिन्ता न करे तो उसे दंड दिया जाय।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय स्थान-स्थान पर कुछ आदमी देवी-देवताओं से बातचीत करनेवाले ज्योतिषी, योगी, भविष्य-वक्ता आदि के रूप में घूमा करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ भिक्षुक और भिक्षुकी अपने पास कपड़ों पर खिंचे हुए देवी-देवताओं के रंगीन

❀ श्री० जगनलालजी गुप्त का मत है कि अर्थशास्त्र की प्रकाशित प्रतियों में जो गणिका शब्द आया है वह अशुद्ध है। शुद्ध शब्द 'गणका' होना चाहिए, और उसका अर्थ हथियारबन्द स्त्री है।

और सादे चित्र रखते थे। वे गृहस्थियों के घरों में जाते, अपने चित्र सम्बन्धी गायन गाते और दर्शकों को चित्र दिखा-दिखाकर उनका वर्णन सुनाते थे। बच्चों और स्त्रियों को बहलाने तथा बहकानेवाले ये भिक्षुक 'कौशिक' और 'आदिति' कहलाते थे। ये बौद्ध जैन और ब्राह्मण आदि होते थे। कौटल्य का मत है कि इनपर सख्ती की जाय और इन्हें शारीरिक दंड भी दिया जाय जिससे ये बिना ज़रूरत भिक्षा-वृत्ति न करें।

आचार्य जंगली और जरायमपेशा आदमियों से भी उपयोगी श्रम लेने के पक्ष में था।

बेगार—जान पड़ता है कि कौटल्य के समय में बेगार की प्रथा उस रूप में प्रचलित नहीं थी, जैसी आजकल समझी जाती है तथा कुछ भागों में अब जारी है। आचार्य ने लिखा है कि सरकारी कर न दे सकनेवाले कुछ मजदूरों से इतना काम करा लिया जाय, जिससे उनका कर चुक सके।❀ इस प्रकार यह श्रम सरकार ही करा सकती थी, और वह भी सब प्रकार के मजदूरों से नहीं। इस श्रम में झाड़ू लगाना, पहरेदारी, तोलना, बोझ उठाना, नापना, पल्लेदारी आदि छोटी-छोटी सेवाएँ ही ली जाती थीं। कर के रूप में तैय्यार वस्तुएँ लेने की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं जान पड़ती। राजा या ज़मींदार आदि अपने निजी कार्य के लिए ऐसा श्रम कराते हों, इसका भी कोई उल्लेख में अर्थशास्त्र में नहीं पाया जाता।

❀ इस दशा में भी मज़दूरों को पर्याप्त भोजन और कुछ नकद वेतन मिलता था।

दास और उनका श्रम—यद्यपि तत्कालीन विदेशी यात्रियों ने भारतवर्ष में दासों का अभाव स्वीकार किया है, तथापि ज्ञान पड़ता है कि आचार्य कौटल्य से पूर्व भारतवर्ष में, किसी-न-किसी सीमा तक दासता थी अवश्य; इसीलिए उसने ऐसे नियम बनाये, जिनके अनुसार कार्य होने से दासों की दशा बहुत सुधर गयी, उनके सदाचार की रक्षा हो गयी, और अन्ततः इस प्रथा का प्रायः उन्मूलन ही हो गया। आचार्य ने यह असन्दिग्ध घोषणा कर दी कि आर्य कभी दास नहीं हो सकता।❀ स्मरण रहे कि वह शूद्रों को भी आर्य जाति का मानता था। उसने उनके बच्चों की भी बिक्री रोक दी और न केवल बच्चा बेचनेवाले शूद्र को (चाहे वह उसका पिता ही क्यों न हो), वरन् इस बिक्री की दस्तावेज पर साक्षी देनेवाले को भी, दंडित ठहराया। उसने यह भी नियम कर दिया कि अपने आपको बेचनेवाले की सन्तान दास न समझी जाय। दासों की आठ वर्ष से कम उम्र की सन्तान से काम लेनेवाला व्यक्ति दंड पाये। छोटे अनाथ बच्चों को विदेश में लेजाकर, बेचने, गिरवी रखने, अथवा गर्भवती दासी को, प्रसव का प्रबन्ध किये बिना बेचने, गिरवी रखने, खरीदने

❀इसका अर्थ यह है कि परस्पर आर्य राजाओं के युद्ध में कैदी सैनिक जो साधारणतया मनु आदि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार दास समझे जाते थे, आगे दास न माने जायँ। विशेषतः जब कौटल्य का शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त कितने ही छोटे-बड़े राजाओं को जीत कर असंख्य सैनिकों को लड़ाई का कैदी बना रहा था, उक्त घोषणा कितनी गौरवपूर्ण मालूम होती है!

वाले और खरीद के दस्तावेज पर साक्षी देनेवाले को भी दंड दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि आज की प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा के सामने चन्द्रगुप्त की प्रजा के दास आचार्य की कृपा के कारण कहीं अधिक स्वतंत्र थे।

बालिग आदमियों की किसी कारण से स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की हुई दासता को रोकना कठिन था। परन्तु आचार्य ने उनके भी अधिकार इतने अधिक कर दिये कि उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया; वे कुछ दशाओं में स्वतंत्र से ही हो गये।*

स्वदेशी विदेशी श्रम—यद्यपि कौटल्य के समय में कुछ विदेशी यहाँ बसे हुये थे, ऐसा अनुमान है कि उनकी संख्या बहुत परिमित थी तथा उनकी परिस्थिति व्यापारियों तथा राजकर्मचारियों से भिन्न नहीं थी अर्थात् उसमें किसान मजदूर या कारीगर आदि कम ही थे। उन्हें अपने जीवन की सब आवश्यकताएँ यहाँ से ही पूरी करनी पड़ती थी। अर्थशास्त्र में ऐसे किसी

---

* उदाहरणवत् उसने यह व्यवस्था की कि यदि कोई दास अपने स्वामी को अपना मूल्य देकर या दिलाकर स्वतंत्र होना चाहे तो मालिक को उसे स्वतंत्र करना पड़े। यदि किसी दासी के, उसके स्वामी से, संतान होजाय या वह उससे मुर्दा या मल-मूत्र उठवाये, या झूठा खिलाये, मारे-पीटे, अथवा उसका सतीत्व हरण करे तो वह दासी स्वतंत्र होजाय। चोर अपराधी अपने अपराध के बदले में जुर्माना देने पर स्वतंत्र समझे जायँ। अपने आपको भूल से बेचनेवाला मनुष्य कभी दास न माना जाय। दास अपनी स्वतंत्र पूँजी इकट्ठा कर सके, जो सामान्य कानून अनुसार उसके वारिसों को मिले।

संघ का उल्लेख नहीं पाया जाता, जो विदेशियों ने यहाँ स्थापित किया हो। कौटल्य ने राजकर्मचारियों की नियुक्ति के विषय में यह सूचना दी है कि वे स्वदेशवासी ही होने चाहिएँ। इससे विदित होता है कि वह साधारणतः सब प्रकार के और विशेषतः उच्च प्रकार के श्रम के लिए स्वदेशी श्रमजीवियों को ही प्रोत्साहन देने के पक्ष में था।

ग्यारहवाँ अध्याय

पूँजी

प्राक्कथन—धन की परिभाषा पहले की जा चुकी है। पूँजी मनुष्य द्वारा उपार्जित वह धन है, जो और अधिक धन पैदा या तैयार करने में लगाया जाय। भिन्न-भिन्न उत्पादकों की पूँजी अलग-अलग तरह की होती है, किसान की पूँजी उसका हल बैल, तथा खेती के अन्य उपकरण बीज आदि हैं, यद्यपि धनी मनुष्य के बैल केवल उसकी सवारी गाड़ी में काम में आने से उसके उपभोग की ही वस्तु हो सकते हैं। कारीगरों की पूँजी में उनके औज़ार आदि गिने जाते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमजीवी, अपने काम के दिनों में भोजन-वस्त्र आदि जिन वस्तुओं का उपभोग करते हैं, वह सब भी उनकी पूँजी ही में गिनी जाती हैं।

पशु-पूँजी की वृद्धि और रक्षा—कौटल्य ने हाथी, घोड़े,

गाय, बैल, भैंस, ऊँट, खच्चर, भेड़, बकरी आदि पशुओं की रक्षा करने, उनकी गणना करने, उनकी नस्ल को कायम रखने और उन्हें अधिक बलवान और उपयोगी बनाने के लिए कई अध्यक्षों की योजना की है। वह जवान बैलों या भैंसों आदि को लड़ाने या लड़ाई में मरवाने के बहुत विरुद्ध था। उसने लिखा है कि जानवरों पर निशान लगवा कर उन्हें रजिस्टर में लिखाने का प्रबन्ध किया जाय। पालतू पशुओं को व्याध, शिकारी, चोर, साँप तथा हिंसक जन्तुओं से सुरक्षित जंगलों में चरने के लिए भेजा जाय। उनके गले में घंटी बाँधी जाय, जिससे हिंसक पशु आदि उसकी आवाज सुनें तो उनकी हानि न करें। उन्हें खूब साफ और यथासम्भव सजाकर रखा जाय। निश्शुल्क चरागाहों आदि के लिए ग्राम-पंचायत या राज्य की ओर से समुचित व्यवस्था रहे।※ जानवरों को पुष्ट रखने के लिए घास, भूसा, खल, नमक, तेल, दाना, दूध, और अदरक आदि की व्यवस्था की जाय। इस प्रसंग में आचार्य ने कुछ पशुओं को शोरबा तक देने की सिफारिश की है। उसका आदेश है कि राज्य की ओर से गाँवों में उत्तम सांड छोड़े जायँ, जो खेत आदि का नुकसान करने पर भी पकड़े न जायँ। स्मरण रहे कि खेतों की हानि होने से अंशतः राज्य की भी हानि होती थी, क्योंकि राज्य को उपज का भाग मिलता था। परन्तु कौटल्य पशुओं की उन्नति की व्यवस्था करने में इस हानि को भी सहन करता है।

※ आजकल चरागाहों की समुचित व्यवस्था न रहने से पशु-पालन बहुत कठिन तथा व्यय-साध्य हो गया है।

आचार्य कौटल्य मांस आदि के लिए पशुओं के मारने के सम्बन्ध में कठोर नियमों का विधान करता है। वह आक्रमण न करनेवाले मछली तथा पक्षियों और मृगों तक के वध और बन्धन को निन्दित ठहराता है। उसने विशेषतया गाय, बैल और बछड़ों को न मारने का आदेश किया है। इनके साथ निर्दयता का व्यवहार करने को भी वह दंडनीय ठहराता है। उसका मत है कि केवल अपने आप मरे हुए पशु का चमड़ा, चर्बी, आँत, खुर, सींग, हड्डी आदि काम में लायी जायँ। इन चीजों के लिए पशु साधारणतया मारे न जायँ। कौटल्य ने बहुतसे पक्षियों को भी मांसाहारियों या शिकारियों से बचने के लिए नियम बनाये हैं।

अर्थशास्त्र में अन्य प्रकार के चिकित्सकों की भाँति पशु-चिकित्सकों का भी उल्लेख मिलता है। कौटल्य ने कहा है कि अश्व-चिकित्सक इस बात का ख्याल रखें कि घोड़े कमजोर न होने पावें। आचार्य ने गाय, बैल, हाथी आदि अन्य पशुओं की चिकित्सा का भी विचार किया है।

स्मरण रहे कि उस समय गाय और हाथियों का इस समय की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व था। आजकल बैल अधिकतर खेती के ही काम में आते हैं। सवारी के लिए बैलगाड़ियों का चलन बहुत कम हो गया है; लोग घोड़ेवाले इक्के-ताँगे का, साइकल और मोटर आदि का उपयोग करने लगे हैं, बड़े-बड़े नगरों में ट्रामवे का प्रचार बढ़ता जा रहा है। लम्बे फासलों के लिए रेलगाड़ी है। उस समय यात्रा का काम भी प्रायः बैलों से लिया जाता था। इसके अतिरिक्त अब माल

ढोने के लिए मोटर और रेल जो काम कर रही है, वह भी उस समय बैल ही करते थे। इस प्रकार अच्छे बैलों की आवश्यकता उस समय कहीं अधिक थी। और, दूध दही आदि के अतिरिक्त, बैलों के लिए गो-पालन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। यद्यपि इस समय भी गौओं के प्रति अनेक भारतीयों की पूज्य बुद्धि बनी हुई है, पर व्यवहार में पहले के समान गोवंश की वृद्धि या रक्षा नहीं होती।

हाथियों की ओर उस समय विशेष ध्यान दिये जाने का कारण, उनका सेना में काम आना था। आजकल हाथियों का सेना में प्रायः कुछ भी उपयोग नहीं होता, उस समय वे चतुरंगिनी सेना के एक खास अंग होते थे।

कुएँ तालाब नहर आदि--कृषि की सिंचाई के कृत्रिम साधनों में कुएँ, तालाब, नहर, बाँध आदि मुख्य हैं। ये राष्ट्रीय पूँजी के अंग हैं, अधिकांश कुएँ तथा कुछ तालाब तो प्रायः व्यक्तिगत पूँजी भी होते हैं। अब हम इनके सम्बन्ध में कौटल्य के विचार बतलाते हैं।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय सिंचाई चार प्रकार से होती थी. (१) हाथ के द्वारा, तालाब आदि से पानी ढोकर, या मशक अथवा ढेंकली आदि से, (२) कन्धों से पानी देकर, ❀ (३) छोटी

❀ अर्थशास्त्र का मूल पाठ है 'स्कन्ध प्रावर्तिमम्'। कुछ लेखकों ने इसका अर्थ 'कंधों पर ढोकर बंहगी द्वारा पानी देना' किया है। परन्तु हमें इसका अर्थ 'रहट, चरस आदि द्वारा अर्थात् बैलों के कंधों की सहायता से पानी निकालना और उससे सिंचाई करना' अधिक युक्तियुक्त और देशकालानुसार जान पड़ता है, जैसा कि श्री० सत्यकेतु जी ने किया है।

नहर या नाली आदि द्वारा, (४) नदी, नहर, तालाब, कुएँ, झील आदि द्वारा।

उस समय लोग कुएँ तालाब आदि अपने भी बनवाते थे, और राज्य द्वारा भी इनके बनाये जाने का प्रबन्ध होता था। कभी-कभी खेतिहर इन्हें सरकारी सहायता से बनाते थे। धनवान लोग धर्म या दान की दृष्टि से भी इन्हें बनवाते रहते थे। पानी जमा करने के वास्ते सेतु या बाँध भी बनाये जाते थे*। जलाशयों की रक्षा और सार्वजनिक उपयोग के सम्बन्ध में आचार्य ने यथेष्ट विचार किया है। उसका मत है कि राज्य सिंचाई सम्बन्धी कार्य स्वयं करने के अतिरिक्त, किसानों को भी इसके लिए आवश्यक सहायता और प्रोत्साहन देता रहे। अन्यान्य बातों में वह लिखता है कि यदि कोई पुरुष नये तालाब और सेतुबन्ध बनवाये तो उससे होनेवाली उपज की वृद्धि पर पाँच वर्ष तक सरकारी कर न लिया जाय। यदि टूटे-फूटे तालाब या सेतुबन्ध को ठीक करवाये

---

* गिरिनार (काठियावाड़) के इस विषय सम्बन्धी एक शिलालेख से मालूम होता है कि उस समय जलाशय किस ढङ्ग के होते थे। उक्त शिलालेख सन् १५० ई० के लगभग वहाँ के तत्कालीन शासक रुद्रदाम ने अशोक के एक स्तम्भ पर खुदवाया था। इसमें लिखा है कि चन्द्रगुप्त के समय में, पश्चिमी प्रान्तों के शासक पुष्यगुप्त नामक वैश्य ने नगर और पहाड़ी के मध्य में जलस्रोत के बाँध से सिंचाई के लिए विशाल तड़ाग बनवाया। यह स्थान मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र से एक हजार मील से कम दूर नहीं है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि राजधानी से इतने फासले के स्थान भी राज्य की ओर से की जानेवाली सिंचाई की सुविधा से वंचित न थे।

तो चार वर्ष, और यदि बने हुए के ऊपर और बनवाये तो तीन वर्ष तक उक्त प्रकार का कर न लिया जाय।

पूँजी सम्बन्धी अन्य विचार—कौटल्य कुछ नियमों के साथ खान खोदने का अधिकार प्रजा को भी दिये जाने की व्यवस्था करके सर्वसाधारण की पूँजी बढ़ाने में सहायता करता है। उसने सहकारी समितियों के संचालन सम्बन्धी नियमों की रचना की है, तथा नहर, पुल, सड़क, बन्दरगाह आदि व्यापार और उपज की सहायक बातों पर यथेष्ट ध्यान दिया है। और, ऐसा करते हुए उसने राज्य की समृद्धि के साथ प्रजा की पूँजी की वृद्धि का यथेष्ट विचार रखा है। पूँजी के विनाश का एक प्रधान कारण बेकारी होती है; कौटल्य ने गृह-शिल्प, राजकीय कारखानों और औद्योगिक धन्धों की उन्नति करके, तथा आलसियों, भीखमंगों या मुफ्तखोरों को दंडनीय ठहरा कर इसका समुचित नियंत्रण किया है।

स्थिर पूँजी और बेकारी—क्या कौटल्य ने पूँजी सम्बन्धी एक विकट समस्या, मशीनरी अर्थात् स्थिर पूँजी के विषय में भी कुछ विचार किया है? आजकल औद्योगिक संसार में स्थिर पूँजी की वृद्धि की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। पूँजी के उस अंश में किफायत करने के लिए, जो मजदूरों को वेतन में दी जाती है, इस बात के नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं कि जो काम मजदूरों द्वारा होता है, उसे मशीनों द्वारा कराया जाय। इसी प्रकार जिस काम के लिए सौ आदमियों की जरूरत होती है, उसे केवल बीस, अथवा इससे भी कम कर सकें, इसके वास्ते तरह-तरह के आविष्कार किये जाते हैं। नित्य नयी मशीनें तथा कल-

पुर्जे इस बात को लक्ष्य में रखकर बनाये जाते हैं कि काम कम समय में, और कम आदमियों के श्रम से हो सके। इसका परिणाम यह है, कि संसार के बहुतसे देशों में कितनी ही चीज़ें इतनी मात्रा में तैयार हो जाती हैं कि उनकी उन देशों में खपत नहीं होती; उनके वास्ते अन्य देशों में बाजार तलाश किया जाता है, और ऐसा करने से भिन्न-भिन्न औद्योगिक देशों का आपस में खूब संघर्ष होता है। बहुतों का माल, गोदामों में आवश्यकता से अधिक पड़ा रहकर खराब होता है। कितने ही कारखानेवाले हारकर कुछ निर्धारित समय के लिए, आखिर अनिश्चित समय के लिए, कारखाना बन्द कर देने पर बाध्य हो जाते हैं। इससे एक-एक देश में हजारों ही नहीं, कई लाख मज़दूर बेकार हो जाते हैं। कौटल्य के समय के यह बेकारी-वर्द्धक पूँजीवाद नहीं था, और न आचार्य ने अर्थशास्त्र में इसके लिए प्रेरणा ही की है।

पूँजी की वृद्धि और देश-रक्षा—कौटल्य ने पूँजी की वृद्धि का यथेष्ट चिन्तन किया है। इसके लिए उसने प्रजा को सुखी और संतुष्ट रखने के विषय में भी सम्यक् विचार किया है। वह उसे राज्य की कठोर नीति या उद्वेगजनक कार्यों द्वारा अशान्त होने देना नहीं चाहता। इसलिए वह अर्थशास्त्र में स्थान-स्थान पर राजा द्वारा प्रजा का पुत्रवत पालन किये जाने का विधान करता है।

यह तो हुई भीतरी शान्ति की बात। आचार्य इस देश को बाहरी आक्रमण के भय से मुक्त करने के लिए, सैनिक शिक्षा को अनिवार्य

किये बिना ही, प्राचीन वर्ण-धर्म की व्यवस्था से लाभ उठाकर, एवं उसमें कुछ सुधार करके देश-रक्षा के यथेष्ट साधन कर लेता है। इस प्रकार देश की भीतरी तथा बाहरी शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करते हुए, आचार्य ने राष्ट्रीय पूँजी की रक्षा और वृद्धि का समुचित विचार किया है।

विदेशी पूँजी—अपनी पूँजी काफी न होने की दशा में विदेशी पूँजी से भी धनोत्पादन करना लाभकारी होता है, परन्तु यह तभी उचित है, जब विदेशी पूँजी के कारण देश में विदेशियों का प्रभाव विशेष न होने पावे। इसीलिए यद्यपि कौटल्य को, राज्य का प्रजा के व्यापार आदि में बाधक होना पसन्द नहीं था, तथापि वह देश में विदेशी पूँजी लगाये जाने की अपेक्षा विदेशी वस्तुओं को बाहर से मँगाकर बेचने के काम को अधिक प्रोत्साहन देने के पक्ष में था*। अर्थशास्त्र में कम्बोज (काबुल) के लोगों के व्यापार-संघों का उल्लेख है, किन्तु ऐसा संघों विदेशी पूँजी से चलनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्थान राजनैतिक दृष्टि से उस समय भारतवर्ष का ही अंग था।

---

* भारतवर्ष को उस समय विदेशी पूँजी की आवश्यकता भी नहीं थी, वह यथेष्ट सम्पन्न था। विदेशियों को यहाँ आकर अपनी पूँजी के बल पर भारतवासियों से प्रतिद्वन्द्विता करने का साहस नहीं होता था।

बारहवाँ अध्याय

व्यवस्था

प्राक्कथन—यद्यपि कौटल्य के समय में आज-कल की तरह बड़े-बड़े कल-कारखाने और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति न होने से व्यवस्था को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था, तथापि भिन्न-भिन्न उत्पादन-कार्यों को आरम्भ करने और जारी रखने, उनके पारस्परिक संघर्ष को रोकने, तथा व्यवसायियों और श्रमियों आदि की विविध असुविधाओं को दूर करने आदि के लिए व्यवस्था की आवश्यकता तो होती ही थी। सहकारी समितियों या संघों आदि की रचना करना, व्यवसाय के संचालन के नियम बनाना, कारीगरों और धनपतियों को व्यावसायिक क्षेत्र में आने के लिए उत्साहित करना, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करना और उनकी सरल व्यवहारोपयोगी योजना करना आदि बातें व्यवस्था के अन्तर्गत हैं।

सहकारी समितियाँ और संघ—प्राचीन समय में बड़े-बड़े कल-कारखाने नहीं थे। बड़ी-बड़ी पूँजी एक ही स्थान में न लगाये जाने के कारण उस समय बड़ी मात्रा की उत्पत्ति भी विशेष नहीं थी। तथापि भारतीय अर्थशास्त्रियों को सहकारिता की उपयोगिता का यथेष्ट ज्ञान था। आचार्य ने अर्थशास्त्र में सहकारी समितियों और

संघों का उल्लेख किया है। उसने इन संस्थाओं के गुण-दोषों का विचार किया है और इनके मुकदमों का फैसला करने के नियम बनाये हैं। अर्थशास्त्र में कई प्रकार के व्यवसायी संघों या श्रेणियों का उल्लेख किया गया है *। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन श्रेणियों के भेद किस दृष्टि से किये गये थे। सम्भव है कि एक श्रेणी, कई-कई प्रकार के काम करती हो, और उन कामों की संख्या के अनुसार उनके नाम एकश्रेणी, द्विश्रेणी, चतुश्रेणी अष्टश्रेणी, द्वादशश्रेणी, शोडशश्रेणी आदि प्रसिद्ध हुए हों। यह अनुमान होता है कि आजकल भिन्न-भिन्न पेशा करनेवाले समूहों के जो चौधरी होते हैं, वे प्राचीन संघों के अधिपतियों के अवशेष रूप हैं। अस्तु. यह निर्विवाद है कि पहले इन श्रेणियों का आधार केवल आर्थिक था, सामाजिक दृष्टि से इनमें कोई पृथक्ता नहीं थी। कौटल्य ने इनके तीन भेद किये हैं, कर्षक (किसान), वैदेहक (व्यापारी), और याजक (पुरोहित, वैद्य आदि)। विविध कारीगरों, कर्मकारों और महाजनों का समावेश इन्हीं में समझा गया होगा।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उक्त संस्थाएँ अपने निजी झगड़े स्वयं ही निपटा लिया करती थीं। इनकी शक्ति पर्याप्त होती थी। किसी व्यक्ति को अपना काम कराने के लिए संघ के मुखिया से बातचीत करनी पड़ती थी। इस प्रकार श्रमी और व्यवसायी लोग राज्य के

---

* कौटल्य ने श्रेणी शब्द का प्रयोग सैनिक अर्थ में (कौ० अ० ७। १४), तथा विविध राजनैतिक संघों के अर्थ में (कौ० अ० ११। १) भी किया है।

प्रत्यक्ष नियंत्रण से बहुत-कुछ मुक्त रहते थे। जो व्यक्ति पूँजी नहीं लगा सकते थे, वे अपने श्रम को सम्पत्ति की तरह प्रयोग करके संघों के सदस्य बन सकते थे। बीमारी आदि आपत्ति के समय ये संघों अपने सदस्यों की रक्षा करते थे।

राज्य के कारखाने—कौटल्य राज्य को व्यवसायिक संस्था का रूप भी प्रदान करता है। उसका मत है कि राजा अपनी पूँजी लगाकर तरह-तरह के कारखाने खोले, जिससे देश के कारीगरों और मज़दूरों के श्रम का अत्युत्तम उपयोग हो। इन कारखानों की व्यवस्था के नियम उसने इस दृष्टि से बनाये हैं कि उनकी प्रजा के कारखानों से प्रतिद्वन्दिता होने पर प्रजा की हानि की सम्भावना न हो। दोनों प्रकार के कारखानों को स्वतंत्र मज़दूरी पर श्रम करने का अधिकार हो। दोनों ही अच्छा माल तैयार करके एक नियत मुनाफे पर बाज़ार में बेच सकें। दोनों समान रूप से राजकीय नियमों का पालन करें और राजकर दें। कोई, प्रतिज्ञाबद्ध नौकरों के द्वारा, अथवा बेगार में, श्रम न लेवें। दोनों में से किसी का माल चोर आदि के द्वारा नष्ट होने की दशा में सम्बन्धित अधिकारी उसका मूल्य दिलावे। दोनों में शागिर्दों अर्थात् नौसिखिये व्यक्तियों को काम सीखने की व्यवस्था रहे।

ऐसे कारखानों से देश को निम्नलिखित लाभ होते हैं:—

(क) राष्ट्रीय पूँजी और उत्पादन-शक्ति व्यर्थ नहीं पड़ी रहती।

(ख) खरीदनेवालों को सदैव नियत मूल्य पर अच्छा माल मिल सकता है, उन्हें माल की परीक्षा करने और मूल्य ठहराने के झंझट में पड़ने की जरूरत नहीं होती।

(ग) देश की अधिकांश आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं और अधिक माल तैयार होने की दशा में विदेशों से व्यापार बढ़ाने का अवसर मिलता है।

यह पद्धति सर्वांश में लाभप्रद ही हो या इसका दुरुपयोग न हो सकता हो, यह बात नहीं है। स्वभावतः ही साधारण व्यवसायी और श्रमी, राज्य द्वारा संचालित कारखानों का मुकाबला नहीं कर सकते। राज्य द्वारा बनी वस्तुओं की खपत के वास्ते, प्रधान अवसर, राज्य की आवश्यकताओं के रूप में उपस्थित रहता है। तथापि प्रजाहितैषी राज्य में, सब बातों का विचार करने पर आचार्य की व्यवस्था लाभकारी ही प्रतीत होती है।

श्रमियों और पूँजीपतियों का पारस्परिक सम्बन्ध—कौटल्य ने श्रमियो और पूँजीपतियों का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा बनाये रखने के लिए न्याययुक्त और सुन्दर नियम दिये हैं। वह दोनों को अपनी शर्तें खुले आम तय करने की सलाह देता है परन्तु उसका मत है कि उनके मामले पंचों द्वारा तय किये जायँ। श्रमियों के समय पर काम पूरा न करने की दशा में, वह उन्हें मोहलत देने की भी योजना करता है, बीमारी आदि की दशा में यह आवश्यक नहीं है कि इकरारनामे की शर्तें पूरी की जायँ। श्रमी संघ का कोई सदस्य श्रम सम्बन्धी नियम भंग करे तो उसे निर्धारित दंड से आधा दंड दिया जाय।

आचार्य ने ऐसे नियम दिये हैं जिनसे ग्राम-जीवन में सहकारिता का भाव बढ़े, और इस विषय में उदासीन रहनेवालों को दंड मिले।

इसी का यह परिणाम हुआ कि केन्द्रीय सरकार पर कालान्तर में विपत्तियाँ आने पर भी गाँवों की सुख-समृद्धि बनी रही; सब उद्योग-धंधे स्वतन्त्रतापूर्वक चलते रहे।

तेरहवाँ अध्याय

खेती और उद्योग-धंधे

धनोत्पत्ति के विविध साधनों के सम्बन्ध में कौटल्य के विचारों का विवेचन किया जा चुका है। अब धनोत्पत्ति के दो मुख्य भेदों—खेती और उद्योग-धन्धों—की तत्कालीन स्थिति पर, आचार्य के विचारों का परिचय देते हुए, प्रकाश डाला जायगा।

खेती

तत्कालीन यूनानी यात्रियों के वर्णन से ज्ञात होता है कि कौटल्य के समय में यहाँ कृषि करनेवालों की दशा सन्तोषप्रद थी, वे सुखी और सम्पन्न थे। यहाँ वर्ष में दो फसलें होती थीं, सिंचाई का समुचित प्रबन्ध रहने से, और कृषकों की आवश्यकताओं और सुविधाओं की भरसक व्यवस्था रहने के कारण, इन फ़सलों में खूब पैदावार होती थी।

कृषिजन्य वस्तुएँ--अर्थशास्त्र में यहाँ उत्पन्न होनेवाले जिन विविध पदार्थों के नाम मिलते हैं, उनमें से कुछ आगे दिये जाते हैं:—

धान्यवर्ग—(क) अनेक प्रकार के अन्न, कोदों, लोभिया, भिन्न-भिन्न प्रकार के धान, तिल, कांगनी आदि वे पदार्थ जो वर्षा के आरम्भ में बोये जाते हैं। (ख) मूँग, उड़द, सेम आदि वे अन्न जो फली में से निकलते हैं और वर्षा के बीच में बोये जाते हैं। (ग) कुसूम, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी, और सरसों आदि वे चीजें जो वर्षा के अन्त में बोयी जाती हैं।

फलाम्ल वर्ग—इमली, अम्लवेद, करौंदा, आम, अनार, खट्टा नीम्बू, चकोतरा, पेवन्दी बेर, झाड़ी का बेर, उन्नाव, फालसा आदि।

कटुक वर्ग—पीपल, मिर्च, अदरक, जीरा, चिरायता, सरसों, धनिया, मेनफल, मरुआ, सेजना आदि।

शाक वर्ग—कन्द (सकरकन्द, जमीकन्द, आदि), मूल (मूली गाजर आदि), फल, शाक (बथुआ, मेथी आदि)।

कौटल्य का कथन है कि नदी आदि के किनारे का स्थान पेठा, कद्दू, ककड़ी, तरबूज आदि बोने के लिए उपयुक्त होता है। पीपल, अंगूर, ईख आदि बोने के लिए वह प्रदेश अच्छा होता है जहाँ पर नदी का जल एक बार हो गया हो। शाक, मूल आदि बोने के लिए कुएँ से सींची जानेवाली भूमि, जई आदि हरी चीजें बोने के लिए झील तालाब आदि के किनारे के गीले स्थान, गन्ध (गुलाब चमेली) भैषज्य (औषधि, धनियाँ, सौंफ आदि), उशीर (खस) और पिंडालुक (कचालू या शकरकन्द आदि) के बोने के लिए वे खेत जिनके बीच में तालाब बने हों, उपयुक्त होते हैं। यद्यपि यह सूची पूरी नहीं है, संकेत से काम लिया गया है, परन्तु इससे तत्कालीन कृषिजन्य पदार्थों का

अच्छा अनुमान हो सकता है। इससे यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि भारतवर्ष में खेती का कार्य अब से सवा दो हजार वर्ष पहले भी लगभग उस अवस्था को पहुँच चुका था, जिस अवस्था में अब यह कार्य यहाँ पर है। जो अन्न आदि विविध पदार्थ यहाँ अब उत्पन्न होते हैं, प्रायः वे सब उस समय भी होते थे। और, यह बात बहुत महत्व की है, कारण कि आधुनिक काल में जो देश उन्नत माने जाते हैं, उनकी कृषि की उन्नति का इतिहास अपेक्षाकृत बहुत थोड़े समय का है। संसार में इने-गिने देश ही ऐसे हैं, जो उस प्राचीनकाल में इतने पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ हुए हों, जितने भारतवर्ष कौटल्य काल में (तथा उससे भी पूर्व) पैदा कर रहा था।

फसल के लिए भूमि और जल आदि—भिन्न-भिन्न पदार्थों के बोने के सम्बन्ध में आचार्य ने संक्षेप से सिद्धान्त की बात बतला दी है। वह कहता है कि खेती के अनुसार, जल की न्यूनाधिकता को देखकर ही खेतों में बोये जानेवाले हेमन्त (शीत) ऋतु के (गेहूँ जौ आदि) और ग्रीष्म ऋतु के (कपास तथा ज्वार आदि) पदार्थों को बुवावे। अर्थात् ऋतु तथा जल के सुभीते के अनुसार ही खेतों में बीज डाला जाय। इसी प्रकार वह बतलाता है कि सूखी जमीनों में तथा जलमय प्रदेशों में होनेवाले अनाज आदि पदार्थों को उनके योग्य प्रदेशों में ही बोया जाय। अर्थात् जो चीजें जैसी भूमि में पैदा हो सकती हों, उनको वैसे ही स्थानों में बोना चाहिए।

अन्य आवश्यक बातें—खेती के लिए भूमि की उपयोगिता बढ़ाने के लिए कौटल्य इस बात पर जोर देता है कि उसमें खूब अच्छी

तरह हल चलाया जाना चाहिए। उसे क्यारियों में विभक्त करना चाहिए। भूमि से पूरा लाभ उठाने के लिए आचार्य ने कितनी ही बातों का ज्ञान आवश्यक बतलाया है जैसे कृषि शास्त्र, भू-माप विद्या, धातु-विज्ञान, वृक्षायुर्वेद (पेड़ों की बीमारियों की पहचान और इलाज), वैज्ञानिक खाद से उपज बढ़ाना, बीज की छाँट और उसे अन्य वस्तुओं से संस्कृत करके अधिक उपजाऊ बनाना (उदाहरणवत ईख के बीज को कटी हुई जगह में घी या शहद के साथ गोबर मिलाकर लगाना) इत्यादि। आचार्य ने यह सम्मति दी है कि जो खेती करनेवाले इन विद्याओं को न जानते हों, वे इन विषयों के विशेषज्ञों से सलाह लें।

आचार्य ने उन बातों पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है, जो मनुष्यों के अधीन नहीं हैं, परन्तु जिनके अनुभव से न्यूनाधिक लाभ उठाया जा सकता है। जैसे ऋतुओं के भागों की जानकारी, वर्षा होने के समय का अनुमान, वर्षा के न्यूनाधिक होने का अनुमान, फसल को ऋतु के अत्यय से बचाना, उसकी बीमारी तथा चूहे, साँप, टीडी, तोते, कीड़ी आदि से रक्षा करना, फसलों का क्रम निश्चय करके उपज बढ़ाना आदि।

कौटल्य ने स्वभावतः उन फसलों के बोने पर जोर दिया है जो थोड़े परिश्रम से अधिक फल देती हैं। इस दृष्टि से वह लिखता है कि धान गेहूँ आदि सर्वोत्तम फसलें हैं, शाक तरकारी मध्यम हैं। आचार्य के मत से ईख सब से ओछी फसल है, इसके बोने और काटने आदि में बहुत श्रम और व्यय होता है, तथा इसमें चूहे और कीड़ों से बड़ी हानि की सम्भावना रहती है।

खेती की उन्नत दशा--कौटल्य जैसे आचार्यों की शिक्षा का ही यह फल था कि उस समय यहाँ खेती इतनी उच्च दशा में थी कि मेगस्थनीज़ जैसे सुप्रसिद्ध यूनानी राजदूत ने भारतवर्ष में शहद और ऊन के पेड़ देखकर आश्चर्य किया था। ये शहद और ऊन के पेड़ हमारे चिरपरिचित ईख और कपास के पेड़ थे, जो यूनान जैसे सभ्य और उन्नत देश में भी उस समय तक कभी देखे या सुने नहीं गये थे। मेगस्थनीज तथा अन्य यात्रियों के वृत्तान्त इस बात की साक्षी हैं कि यहाँ उस समय अकाल नहीं पड़ता था और खाने-पहनने की वस्तुएँ महँगी नहीं होती थीं। सर्वसाधारण आर्थिक (एवं अन्य) दृष्टि से बहुत उत्तम और संतोषप्रद जीवन व्यतीत करते थे। मेगस्थनीज का कृषि सम्बन्धी निम्नलिखित उद्धरण विचारणीय है—"भारतवासियों में ऐसी बहुतसी रीतियाँ हैं जो उनके बीच अकाल पड़ने की सम्भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती रखने या ऊसर कर डालने की चाल है, पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में—जो कृषक समाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं भूमि जोतनेवाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, किसी प्रकार भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़नेवाले युद्ध के समय एक-दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे होते हैं, उन्हें सर्वथा निर्विघ्न रहने देते हैं। इसके अतिरिक्त न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उसके पेड़ काटते हैं।" जिस कृषि-कार्य के करनेवाले पवित्र और अवध्य माने जावें, उसकी उन्नति क्यों न हो! भारतवर्ष

की यह अब से सवा दो हजार वर्ष पहले की बात, आजकल के सभ्य देशों के लिए भी शिक्षाप्रद है।

उद्योग-धंधे

तत्कालीन भारत में, खेती की तरह उद्योग धन्धों की भी काफी उन्नति हो चुकी थी। मेगस्थनीज़ लिखता है कि भारतवासी कला कौशल में भी बड़े निपुण पाये जाते हैं और अधिक सुसभ्य भारतीय समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुतसे व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। यहाँ के मुख्य-मुख्य उद्योग-धंधों के विषय में कुछ व्यौरेवार बातें आगे बतलायी जाती हैं।

वस्त्र--उद्योग-धंधों में वस्त्र का विषय मुख्य है। सभी आदमियों को कपड़े की जरूरत होती है। जिन देशों में काफी वस्त्र नहीं बनता, उन्हें विदेशों से मँगाना पड़ता है, अथवा वहाँ के आदमी आधे नंगे रहकर गुजर करते हैं। कौटल्य के भारत में ऐसी कोई बात न थी, तब यहाँ वस्त्र अच्छी मात्रा में तैयार होना स्वतः सिद्ध बात है। भारत-वर्ष में रुई के अतिरिक्त रेशम, सन, ऊन, तथा जूट आदि अन्य कई प्रकार के रेशों के वस्त्र बनाये जाते थे। कौटल्य लिखता है कि राज्य की ओर से विधवा, विकलांग, कन्या, संन्यासिन, अपराधिन (किसी अपराध में प्राप्त हुए जुर्माने के दंड को काम करके भुगतानेवाली), वेश्याओं की वृद्धा माता, बूढ़ी राजदासी और देवालयों से छूटी हुई बूढ़ी देवदासियों से उक्त वस्तुओं का सूत कतवाया जाय। सम्भव है, आजकल जो चर्खा प्रचलित है, वही उस समय काम में लाये जाता हो। सूत से कपड़ा बुनने का काम जुलाहे अलग-अलग भी करते थे,

और इस काम के लिए कारखाने भी थे।

कपड़े किस-किस प्रकार के बनते थे इस विषय में अर्थशास्त्र में अच्छा प्रकाश डाला गया है। ऊनी वस्त्रों के सम्बन्ध में लिखा है कि भेड़ की ऊन से बने हुए कपड़े प्रायः सफेद, शुद्ध लाल और कुछ लाल रंग के होते हैं। ये बनावट के भेद से दस तरह के बताये गये हैं। भेड़ की ऊन के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों से भी तरह-तरह के वस्त्र बनाये जाते थे।

उत्पत्ति-स्थान के भेद से अर्थशास्त्र में दुशालों के तीन भेद बताये गये हैं, बांगक, पौंड्रक और सौवर्ण कुड्यक। इनमें से बांगक, अर्थात् बंगाल का बना हुआ, सफेद तथा चिकना होता है। पौंड्र अर्थात् पुंड्र (ढाका राजशाही) का काला, तथा मणि की तरह चिकना होता है। सौवर्ण कुड्यक, अर्थात् आसाम और ब्रह्मा का बना हुआ, सूर्य के सामान चमकते हुए रंग का होता है। कौटल्य ने बतलाया है कि इन सब दुशालों की बनावट किस-किस तरह की होती है, तथा इनमें कौनसा बहुमूल्य होता है और किसे घटिया समझना चाहिए।

सूती वस्त्रों के सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि मधुरा (पांड्य प्रदेश), अपरान्तक (कोंकण प्रदेश), कलिंग, काशी, बंगाल, वत्स (कोशाम्बी या कौसम, प्रयाग के निकट) और मैसूर में बने हुए कपड़े सबसे उत्तम समझे जाते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ उस समय वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत दशा में था।

वस्त्र सम्बन्धी अन्य उद्योग—(क) कवच और रस्सी।

कौटल्य ने कपड़ा बुननेवालों के प्रसंग में सूत के कवच और रस्सी बनानेवालों का भी उल्लेख किया है। रस्सियां विशेषतया सूत, सन, बेंत और बांस के रेशों की बनायी जाती थीं। रेशम की भी होती थीं। फर्श भी बनाये जाते थे।

(ख) कपड़ों की धुलाई और रंगाई। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय यह काम भी काफी उन्नत अवस्था में था। उसमें इस बात की व्यवस्था की हुई है कि धोबियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र कितने समय में धोकर दे देने चाहिएँ, और अधिक समय पड़े रखने अथवा फाड़देने, बदलदेने या किराये पर देने अथवा गिरवी रखने की दशा में उन पर कितना जुर्माना किया जाय। धोबी कपड़े धोने के अतिरिक्त, रंगाई का काम भी किया करते थे। उस समय रंगने का काम बहुत उन्नत अवस्था को पहुँच गया था। रंग यहाँ बनस्पतियों से बनाये जाते थे। यहाँ के रंगों की स्थिरता तथा सौन्दर्य ने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। यूनानियों ने यहाँ की रङ्ग की कला का उल्लेख किया है। खेद है कि विदेशी, विशेषतया जर्मनी के, सस्ते रासायनिक रंगों ने अब उसे नष्टप्राय कर दिया है।

(ग) सिलाई। लोगों के पहनने आदि के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़ों की सिलाई होती थी। यद्यपि अधोवस्त्र (धोती) और दुकूल (दुपट्टा) आदि बिना सिले कपड़ों का भी समाज में चलन था, अनेक गृहस्थी अच्छी पोशाक पहनते थे। इस दशा में इस व्यवसाय को उन्नत अवस्था में होना ही चाहिए।

खनिज उद्योग—कौटल्य ने इस विषय का विस्तारपूर्वक

वर्णन किया है। उसने बतलाया है कि कहाँ किस चीज़ की खान है, यह जानने के लिए कच्ची धातु की, उसके भार, रंग, तेज, गंध और स्वाद द्वारा परीक्षा की जानी चाहिए। पहाड़ों के गढ़ों, गुफाओं, तराइयों तथा पथरीले स्थानों और बड़ी-बड़ी शिलाओं से ढके हुए छेदों से जो नाना प्रकार के द्रव बहकर निकलते हैं, उनकी जाँच से यह जाना जा सकता है कि यहाँ किस वस्तु की खान होने की सम्भावना है। विविध कच्ची धातुओं को उनके शुद्ध रूप में परिवर्तित करने के कौटल्य ने अनेक उपाय बतलाये हैं। उसने यह भी लिखा है कि कोई खान पहले से प्रयुक्त हुई है या नहीं, यह किस तरह जानना चाहिए, तथा भिन्न-भिन्न धातुओं को नरम और लचकदार बनाने की क्या विधि है। खनिज द्रव्यों का पता लगाने, उन्हें निकालने, तथा उपयोगी बनाने के कार्य में बहुतसे आदमी लगे रहते थे। कौटल्य ने इस व्यवसाय की विशद विवेचना की है।

नमक—कौटल्य ने विदेशी नमक पर साधारण कर के अतिरिक्त उसके मूल्य का छठा हिस्सा राजकर ठहराया है। इससे अनुमान हो सकता है कि वह इस वस्तु के स्वदेशी व्यवसाय को बहुत प्रोत्साहित करता था, और यहाँ अनेक आदमी इस व्यवसाय में लगे होंगे।

रत्न—आचार्य ने अपने ग्रन्थ के एक सम्पूर्ण अध्याय में 'रत्नों की परीक्षा' का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसमें मोती, मणि, हीरे आदि के मुख्य-मुख्य भेद उनके उत्पत्ति-स्थान, उन्हें निकालने, शुद्ध करने, और घटिया-बढ़िया होने की परख करने के विविध नियम बतलाये हैं। इस से विदित होता है कि इन रत्नों का कार्य उस समय

बहुत बढ़ा चढ़ा था।

आभूषण--आचार्य ने अर्थशास्त्र में तत्कालीन सुनारों की चालाकी का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, और धातुओं को तपाने गलाने, शुद्ध करने, आभूषण बनाने या सुधरवाने की विविध रीतियाँ, तथा हीरा, मणि, मोती, मूँगा आदि रत्नों को आभूषणों में जड़ने के नियम तथा उनके विषय में अन्य बहुतसी आवश्यक बातें बतलायी हैं। इससे प्रतीत होता है कि आभूषण सम्बन्धी कार्य भी उस समय बहुत होता था।

शराब--आचार्य ने शराब के कई भेद तथा उनके बनाने की विधियाँ बतलायी हैं, और उनके बनाने, बेचने और पीने के सम्बन्ध में कई प्रकार के बन्धन लगाये हैं। इससे विदित होता है कि यह उद्योग यहाँ बहुत उन्नत अवस्था में था, और आचार्य को इस वस्तु के उपभोग को नियंत्रित करने की बहुत आवश्यकता हुई थी।

नौका निर्माण और संचालन—भारतवासियों की प्राचीन नौका-निर्माण तथा नौ-संचालन-विद्या अब स्वप्न सी हो गई है। कौटल्य ने अर्थशास्त्र के नौकाध्यक्ष प्रकरण में अनेक प्रकार की छोटी और बड़ी नौकाओं और जहाजों का उल्लेख किया है*। इससे उस समय की इस विषय सम्बन्धी उन्नति का अच्छा प्रमाण मिलता है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय नाव और जहाज बनाने तथा चलाने की कला अच्छी विकसित थी।

---

* इनमें से कुछ की चर्चा अन्यत्र 'व्यापार के मार्ग और साधन' अध्याय में की गयी है।

मांस—कौटल्य ने कितनेही पशुओं को सर्वथा अवध्य ठहराया है, और खास-खास दिन किसी भी पशु की हिंसा न किये जाने का आदेश किया है तथा मांस के उद्योग में और भी प्रतिबन्ध लगाये हैं। तथापि जान पड़ता है कि उस समय भारतवर्ष में यह व्यवसाय खासी मात्रा में था।

औषधियाँ—आचार्य लिखता है कि नगर के उत्तर-पश्चिम भाग में औषधशाला बनायी जाय। वह औषधियों को इतनी बड़ी मात्रा में संग्रह करके रखने का आदेश करता है जो कई वर्ष तक समाप्त न हों।* उसका यह भी कथन है कि जो वस्तु पुरानी हो जाय उसके स्थान पर नयी वस्तुओं को रखा जाय। उसने अर्थशास्त्र में भिषक् (साधारण चिकित्सक), जांगलीविद् (विष-चिकित्सक), गर्भ-व्याधि-संस्था (गर्भ-सम्बन्धी बीमारियों का इलाज करनेवाले), पशु-चिकित्सक आदि कई प्रकार के चिकित्सकों का वर्णन किया है। यद्यपि सर्वसाधारण की चिकित्सा का प्रबन्ध राज्य की ओर से रहता था, तथापि स्वतन्त्र वैद्य भी उस समय अच्छी संख्या में रहते होंगे। कौटल्य को उनपर नियन्त्रण करने की आवश्यकता मालूम हुई, और उसने इस सम्बन्ध में अपने नियम दिये हैं।

चमड़े का उद्योग—कौटल्य ने बतलाया है कि यहाँ अनेक प्रकार के बढ़िया और घटिया चमड़ों का उपयोग होता था। इनकी

*इस समय के उन्नत कहे जानेवाले भारतवर्ष में प्रति वर्ष लाखों रुपये की औषधियां विदेशों से आती हैं। कौटल्य का भारत इस विषय में सर्वथा स्वावलम्बी था।

तरह-तरह की चीजें बनती थीं। इस प्रकार यह उद्योग भी उन्नत अवस्था में था।

बर्तन बनाने का काम—अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि धातुओं और मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त यहाँ विदलमय (दो दल-वाली लकड़ी के) पात्र भी होते थे, जो बेंत या बाँस आदि की लकड़ियों से बनाये जाते थे, जैसे पिटारी टोकरी आदि।

जंगल सम्बन्धी उद्योग—कौटल्य के समय में जंगल की रक्षा और उन्नति की ओर बहुत ध्यान दिया जाता था। जंगलों की पैदावार पहले (भूमि के अध्याय में) बतायी जा चुकी है। उसकी अनेक चीजें बनायी जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि उस समय अनेक आदमी इस उद्योग में लगे रहते थे।

अस्त्र-निर्म्माण आदि—कौटल्य के समय में भारतवर्ष की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी, उसके लिए यहाँ तरह-तरह के अनेक वस्त्र तैयार कराये जाते थे। इन्हें बनाने तथा इनकी मरम्मत करने आदि में बहुत से कारीगर लगे रहते थे। इस प्रकार यह उद्योग यहाँ बहुत अच्छी अवस्था में था।

अन्य मुख्य उद्योग-धंधों के विषय में विशेष न लिखकर, यहाँ केवल उनके नाम देकर ही सन्तोष किया जाता है।

(क) लकड़ी चीरना या फाड़ना।

(ख) लकड़ी का सामान बनाना (बढ़ईगीरी)।

(ग) लुहारी (लोहे का साधारण कार्य, अस्त्र-निर्म्माण के अतिरिक्त)।

(घ) निर्म्माण-कार्य (उस समय बहुत से भवन और किले आदि पत्थर के बनते थे)।

(छ) मूर्ति बनाना (उस समय भी भिन्न भिन्न देवताओं की बहुत सी मूर्तियाँ बनायी जाती थीं)।

इनके अतिरिक्त, बहुतसे आदमी अन्य कार्यों में भी लगे रहते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उस समय उद्योग धन्धों की कमी न थी और अनेक व्यवसाय बहुत उन्नत अवस्था में थे।

उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण—अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय उद्योग-धंधों के स्थानीयकरण की यथेष्ट प्रवृत्ति थी। आचार्य ने 'जनपदनिवेश' प्रकरण में भिन्न-भिन्न कार्य करनेवालों के लिए पृथक् भूमि दी जाने की व्यवस्था की है। उसने लिखा है 'राजा खनिज पदार्थों के बेचने के स्थान, द्रव्यवन, हस्तिवन, गाय आदि की रक्षा और वृद्धि के स्थान, व्यापार के स्थान, बाजार और मंडियाँ आदि बनवावे।' इसी प्रकार नगरों के भिन्न-भिन्न भागों में उसने भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधेवालों के रहने की व्यवस्था की है।

कौटल्य ने अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण के 'कारुक रक्षण' शीर्षक प्रथम अध्याय में इस बात का विचार किया है कि विविध प्रकार के शिल्पियों का सर्वसाधारण से क्या सम्बन्ध रहे, उन्हें भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए कितना वेतन दिया जाय, तथा काम बिगड़ने की दशा में वे कहाँ तक दोषी माने जायँ। इससे स्पष्ट है कि उस समय उद्योग-धंधों का यथेष्ट महत्त्व था।

चौदहवाँ अध्याय

मुद्रा

पिछले छः अध्यायों में कौटल्य के धनोत्पत्ति सम्बन्धी विचार दिये जा चुके हैं। आगे आचार्य के व्यापार सम्बन्धी विचार बतलाये जायँगे। अपनी आवश्यकता के अनुसार दूसरों की चीज़ें लेने, तथा बदले में अपने पास की (अधिक मात्रावाली या कम आवश्यक) वस्तुएँ देने से ही मनुष्यों का काम चलता है। आधुनिक संसार में पदार्थों का अदल-बदल कम और क्रय-विक्रय अधिक होता है। क्रय-विक्रय के लिए पदार्थों की कीमत रुपये-पैसे के रूप में निश्चित की जाती है। इसलिए पहले इस अध्याय में हम आचार्य के समय की मुद्रा सम्बन्धी बातों पर प्रकाश डालते हैं। विदित हो कि उसके समय यहाँ मुद्रा का पर्याप्त चलन होगया था और आधुनिक उन्नत देशों की भाँति यहाँ बड़े परिमाण में क्रय-विक्रय और व्यापार, मुद्रा के ही द्वारा होते थे।

आजकल मुद्रा का चलन इतना होगया है कि हमें यह सोचने का अवसर नहीं मिलता कि संसार के विविध भागों में कभी लोगों का काम बिना मुद्रा के चलता होगा। तथापि मुद्रा की आयु भारतवर्ष

को छोड़कर अन्यत्र ढाई-तीन हजार वर्ष से अधिक नहीं है।* हाँ, भारतवर्ष में इससे भी पूर्व सिक्का बनाने की उपयोगिता एवं पद्धति ज्ञात हो चुकी थी, और क्योंकि उस पर ठप्पे की छाप होती थी, इसलिए सिक्के को मुद्रा कहने लगे थे।

कौटल्य के सिक्के, पण और माषक—अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय सर्वसाधारण में पण राज्य का प्रामाणिक सिक्का था। यह चाँदी का होता था। इस का वजन सोलह माशे होता था। एक माशा ८८ सफेद सरसों का माना गया है। एक पण में चार माशे ताम्बा, ग्यारह माशे चाँदी, और एक माशा लोहा, सीसा, रांग या सुरमा आदि कोई अन्य धातु होती थी। जिस प्रकार आजकल रुपये के भाग अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी प्रचलित हैं, उसीप्रकार उस समय पण से छोटे सिक्के अर्द्धपण आठमाशे के, पाद पण (चतुर्थांश पण) चार माशे के, और अष्टभाग पण दो माशे के, बनाये जाते थे। ये सिक्के विशेषतः चाँदी के होते थे, इनमें भिन्न-भिन्न धातुओं का परिमाण पण की तरह होता था।

चौथायी पण मूल्य का एक सिक्का ताम्बे का बनाया जाता था, जिसका नाम 'माषक' होता था। यह तोल में पण के बराबर अर्थात् सोलह माशे का होता था। पण की तरह माषक के भाग अर्द्धमाषक, कांकणी (चतुर्थांश माषक) अर्द्ध कांकणी (अष्टमांश माषक) होते थे। ये सिक्के विशेषतः ताम्बे के होते थे।

---

* विदेशी सिक्कों में सब से पुराना सिक्का लिडिया (आरमीनिया) का माना जाता है, जो अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व का है।

इस प्रकार यद्यपि व्यवहार में चाँदी और ताम्बे के सिक्कों से काम चलाया जाता था, किन्तु राजा के पारिक्षिक द्वारा सोने के बड़े टुकड़ों पर परीक्षा के चिन्ह लगवाकर उन्हें भी उपयोग में लाया जाता था। ऐसे टुकड़े 'विशुद्ध हिरण्यक' कहलाते थे।

मुद्रा ढलाई—अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय आदमी अपनी धातु लेजाकर राजकीय टकसाल में सिक्के ढलवा सकते थे, एवं यदि वे चाहते तो स्वयं भी ढाल सकते थे। हाँ, इस दशा में उन्हें कुछ नियमों का पालन करना होता था। जो व्यक्ति अपनी धातु के सिक्के राजकीय टकसाल में ढलवाता था, उसे तीन प्रकार के शुल्क देने होते थे—

१—ढलाई की मजदूरी। इसे कौटल्य ने रूपिक कहा है। यह सौ पण पर आठ पण होती थी।

२—मूल्य स्थिर रखने का नफा नुकसान। इसे व्याजी कहा गया है। यह सौ पण पर पाँच पण होती थी।

३—मुद्रा के सच्चा प्रमाणित करने का शुल्क। इसे पारिक्षिक कहा गया है। यह सौ पण पर अष्टमांश पण होती थी।

इस प्रकार सरकारी टकसाल में मुद्रा-ढलाई सम्बन्धी कुल व्यय $१३\frac{१}{८}$ प्रतिशत होता था।

यदि कोई व्यक्ति स्वयं कारखाने खोलकर मुद्रा ढालना चाहता तो वह ढाल सकता था। उसे रूपिक नहीं देना पड़ता था। मुद्रा

सम्बन्धी निर्धारित शुल्क न देनेवालों तथा जाली या नकली सिक्का बनानेवालों के लिए कौटल्य राजा की ओर से समुचित दंड दिये जाने की व्यवस्था करता है*। इस प्रकार सिक्का ढालने में राज्य का एकाधिकार नहीं था, सर्वसाधारण भी आवश्यकतानुसार यह कार्य कर सकते थे, हाँ उन्हें निर्धारित नियमों का पालन करना और निश्चित शुल्क देना होता था।

हुंडियाँ—भरतवर्ष में व्यापार में, हुंडी-पुर्जे का व्यवहार चिरकाल से रहा है। परन्तु कौटल्य ने इस विषय पर कुछ प्रकाश नहीं डाला कि भुगतान करने के लिए सिक्कों के अतिरिक्त उस समय क्या-क्या साधन थे तथा उनके सम्बन्ध में क्या-क्या नियम थे। उसने अर्थशास्त्र के औपनिधिक प्रकरण में 'आदेश' का उल्लेख किया है। श्री० सत्यकेतु विद्यालकार का कथन है कि 'अनेक विद्वानों की सम्मति में आदेश वर्तमान हुँडियों (Bills of exchange) के समान ही कीमत चुकाने का एक साधन था। शब्दार्थ की दृष्टि से, किसी दूसरे व्यक्ति को, अन्य किसी को कीमत चुकाने के लिए आज्ञा करने का नाम आदेश है।'

---

* आचार्य के नियमों के अनुसार बने हुए सिक्कों के धात्विक मूल्य और बाजारी मूल्य में विशेष अन्तर न होने से लोगों का नकली सिक्के बनाने का विशेष प्रलोभन नहीं होता था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

कीमत

व्यापार के सम्बन्ध में आचार्य के विचारों पर प्रकाश डालने से पूर्व उसके कीमत सम्बन्धी विचार जानलेना आवश्यक हैं। हम यहाँ मूल्य शब्द का व्यवहार न कर 'कीमत' का कर रहे हैं। इनका पारिभाषिक अन्तर समझ लेना चाहिए। जब किसी वस्तु के निर्धारित परिमाण के बदले में निर्दिष्ट परिमाण की दूसरी वस्तु ली जाती है तो यह उसका 'मूल्य' (value) कहलाती है। और, जब किसी वस्तु का मूल्य रुपये-पैसे में निश्चित होता है तो अर्थशास्त्र में यह उसकी 'कीमत' (Price) कही जाती है। पहले बताया जा चुका है कि कौटल्य के समय से भी पूर्व यहाँ मुद्रा का चलन था और पदार्थों का क्रय-विक्रय रुपये-पैसे में होता था।

कीमत निश्चित करने के नीति—इस विषय में पहली मुख्य बात जो पाठकों का ध्यान आकर्षित करती है, वह आचार्य की, राज्य द्वारा कीमत निश्चित कराने की, नीति है।* वह व्यापारियों को सन्देह

---

*आजकल राज्य के लिए कीमत नियत करने का प्रश्न बहुत कठिन होता है, तथापि समय-समय पर इस प्रकार का प्रयत्न किया जाता है। पिछले योरपीय महायुद्ध के दिनों में बहुतसे देशों की सरकारों ने खाद्य सामग्री और वस्त्र की कीमत के नियंत्रण के नियम प्रचलित किये थे। इस महायुद्ध में भी यह किया जा रहा है।

की दृष्टि से देखता है। नीच प्रकृतिवाले व्यापारी वस्तुओं का मूल्य बहुत अधिक बताकर ग्राहकों को धोखा दिया करते हैं। कौटल्य उनकी स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति का विचार करके व्यापारियों और कारीगरों को 'चोर न कहेजानेवाले चोर' कहता है। उसका मत है कि इनसे (तथा नट, भिखारी, और ऐन्द्रजालिक अर्थात् बाजीगर आदि लोगों से) देश की रक्षा करनी चाहिए, जिससे कमजोर लोगों को पीड़ा न पहुँचे। इसलिए वह वस्तुओं की कीमत निश्चित की जाने का आदेश करता है।

निस्सन्देह ऐसी व्यवस्था उसी दशा में यथेष्ट व्यावहारिक होती है, जब लोगों की आवश्यकताओं और विक्रेय पदार्थों की संख्या परिमित हो, और आजकल के समय में इसका पूर्णतः पालन करना कठिन है। तथापि इससे मूल सिद्धान्त की महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। यदि व्यापारियों को इस बात की सख्त ताकीद हो कि वे प्रत्येक वस्तु की निर्धारित कीमत रखें तो व्यवसायिक संसार की कितनी बुराइयाँ दूर हो जायँ। आजकल बाजार में बहुधा एक ही पदार्थ भिन्न-भिन्न कीमत से बिकता है, कोई रोकटोक नहीं होती। भोले-भाले ग्राहक तो बेहद ठगे ही जाते हैं। कभी कभी तो अच्छे जानकारों को भी भाव-ताव करने के झंझट में बहुत फंसना पड़ता है। आचार्य कौटल्य के सिद्धान्तों के अनुसार यह नहीं हो सकता था। अबोध बालक भी बाजार से चीज ले आता, और उसके ठगेजाने की आशंका न होती।

कीमत निश्चित करने के उपाय—कौटल्य का कथन है कि बिक्री का माल बेचेजाने से पूर्व राज्याधिकारियों को दिखाया जाय,

उनकी स्वीकृति के पश्चात् उसके गुण अर्थात् घटिया-बढ़िया होने के अनुसार वर्गीकरण किया जाय और कीमत निश्चित की जाय। उसी कीमत के अनुसार व्यापार-कर या चुँगी ली जाय। व्यापारी पुरुष शुल्कशाला के आंगन में उपस्थित हो कर पण्य के परिमाण और कीमत की आवाज लगावे, "इस माल का इतना परिमाण और कीमत है, इसका कोई खरीदने वाला है ?" इस प्रकार उसके तीन बार आवाज देने पर जो व्यक्ति खरीदना चाहे, उसे उतनी ही कीमत पर माल दिलवा दिया जाय।

यही नहीं, आचार्य का यह भी कथन है कि 'यदि खरीदनेवालों का आपस में संघर्ष हो जाय (अर्थात् खरीदार एक-दूसरे से बढ़कर उस माल की कीमत लगाते जायँ) तो उस माल की घोषित कीमत से जितनी अधिक आमदनी हो, वह शुल्क सहित राजकोष में भेज दी जाय।' इस नियम के होते हुए व्यापारी को अपना माल अधिक कीमत में बेचने से कोई लाभ नहीं रहता, फलतः वह ऐसा करने के लिए प्रयत्न भी नहीं करता।

माँग और पूर्ति—इस प्रकार आचार्य ने कीमत निर्धारित करने के ऐसे उपाय बतलाये हैं, जो स्वाभाविक रूप से स्वयं व्यवहार में नहीं आते। साधारणतः किसी वस्तु की कीमत माँग और पूर्ति के नियम से निश्चित हुआ करती है। पूर्वोक्त उद्धरण में आचार्य केवल माँग के प्रभाव को स्वीकार करता है। 'पण्याध्यक्ष' प्रकरण में उसने लिखा है कि "बहुतसे स्थानों से, अर्थात् बहुत से व्यक्तियों के द्वारा, बेचे जानेवाले राजपण्य को, व्यापारी लोग कीमत निश्चय करके बेचें

अर्थात् नियत कीमत पर बेचें,। यदि विक्रय होने पर कीमत में कुछ कमी होजाय तो उसके अनुसार ही व्यापारी लोग 'वैधरण' दें, अर्थात् उस सारी कमी को पूरा करें।" यहाँ आचार्य कीमत में केवल पूर्ति के प्रभाव को मानता हुआ मालूम होता है। परन्तु वास्तव में कीमत को निश्चय करने में अकेली माँग या अकेली पूर्ति का ही प्रभाव नहीं पड़ता, वह दोनों के सामंजस्य पर निर्भर होती है।

उत्पादन-व्यय—चीजों की कीमत की घट-बढ़ पर उत्पादन व्यय का भी बड़ा असर पड़ता है। साधारणतया किसी चीज के तैयार होने में जो खर्च पड़ता है, उसके आस-पास ही उसकी कीमत रहती है। कौटल्य ने कीमत के प्रसंग में उत्पादन-व्यय का उल्लेख नहीं किया, हाँ, उसमें जो भूमि, श्रम, और पूँजी तथा व्यवस्था के प्रतिफल लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफे का समावेश होता है, उनका आचार्य ने यथेष्ट वर्णन किया है। हम उसके इन विषयों सम्बन्धी विचार आगे यथास्थान देंगे।

एकाधिकार और कीमत—यद्यपि साधारण दशाओं में वस्तुओं की कीमत मांग और पूर्ति की समता से, उत्पादन व्यय के कुछ इधर-उधर, निश्चित हुआ करती है, तथापि इस सम्बन्ध में एकाधिकार या ठेके का विषय भी विचारणीय होता है। प्रायः एकाधिकारी किसी वस्तु की कीमत अधिक-से-अधिक ऊंची रखता है। परन्तु इस कीमत की भी एक सीमा होती है। वह सदैव यह चाहता है कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ हो। इसलिए वह किसी चीज़ की कीमत को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जहाँ तक वह इतनी मात्रा में

बिक सके कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो। इस सीमा के बाद वस्तु की कीमत बढ़ाने से बिक्री कम हो जाने से उतना लाभ नहीं होगा।

अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि विदेशी वस्तुओं के बेचने की व्यवस्था भिन्न-भिन्न स्थानों से होती थी, उसमें एकाधिकार कही जा सकनेवाली बात नहीं थी। स्वदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता था।

विशेष वक्तव्य—इस अध्याय में एक बात पर और विचार कर लें। अर्थशास्त्र के आधार पर आज यह कह सकना नितान्त कठिन है कि कौटल्य के समय में एक गाय कितने पण में आती थी, अथवा एक मन अन्न की कीमत क्या थी। तथापि आचार्य के विवेचन से धातुओं के पारस्परिक मूल्य जानने के लिए कुछ सुविधाएँ मिलती हैं। उदाहरणवत एक रजत पण (ग्यारह माशे चांदी और एक माशा ताम्बा) का मूल्य सोलह ताम्र पण (१९१ माशे ताम्बा) था। इससे ज्ञात हुआ ११ माशे चांदी के बदले १९१ माशे ताम्बा मिल सकता था, अर्थात् चाँदी और ताम्बे के मूल्य का अनुपात १९१ : ११ था।

सोलहवाँ अध्याय

व्यापार के मार्ग और साधन

जल और स्थल-मार्गों की उपयोगिता की तुलना—व्यापार या तो स्थल-मार्ग से होता है या जल-मार्ग से। यद्यपि आज-

कल कुछ व्यापार-कार्य वायुयानों द्वारा होने लगा है, और भविष्य में आकाश-मार्ग के अधिकाधिक उपयोग किये जाने की सम्भावना प्रतीत होती है, तथापि अभी बहुत समय तक उपर्युक्त दो मार्गों की ही विशेषता रहनेवाली है। आचार्य ने पहले इन मार्गों की उपयोगिता की तुलना करते हुए प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह मत दर्शाया है कि इनमें से जल-मार्ग श्रेयस्कर है, क्योंकि वह थोड़ासा धन व्यय करने पर, थोड़ेही परिश्रम से तैयार किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त इस मार्ग से माल भी बड़ी आसानी से लाया लेजाया जा सकता है। इसलिए इससे बहुत लाभ होने की सम्भावना है। परन्तु कौटल्य इस सिद्धान्त को नहीं मानता। उसका मत है कि जल-मार्ग विपत्ति में सब ओर से रुक जाता है (जाड़ों में बर्फ जम जाने के कारण, तथा गर्मी में सूख जाने से उसका उपयोग नहीं हो सकता)। स्थल-मार्ग की अपेक्षा जलमार्ग अधिक भयजनक है (डूबने आदि का डर रहता है) और भय उपस्थित होने पर उसका प्रतिकार भी नहीं किया जा सकता। परन्तु स्थल-मार्ग में ये दोष नहीं होते हैं, अतः उक्त दोनों मार्गों में उसे ही अच्छा समझा जाना चाहिए।

इस विवेचन के पश्चात् कौटल्य ने दोनों मार्गों के विषय में कुछ ब्योरेवार बातें बतलायी हैं। पहले जल-मार्ग का विचार करते हैं।

जल-मार्गों के भेद और उपयोगिता—आचार्य लिखता है कि जल-मार्ग दो प्रकार के होते हैं (१) जल के किनारे का मार्ग (२) जल के बीच में अर्थात् जल ही जल में जाने का मार्ग। इन

दोनों मार्गों में से आचार्य के विचार से प्रथम मार्ग अच्छा होता है, क्योंकि ऐसे मार्ग पर व्यापारी नगर तथा बन्दरगाह बहुत होते हैं, और उनसे बहुत लाभ उठाया जा सकता है। आचार्य नदियों और नहरों के मार्ग को इसलिए उत्तम बतलाता है कि नदियों और नहरों की धारा निरंतर बनी रहती है और इस मार्ग में विशेष बाधाएँ उपस्थित नहीं होतीं। उसने लिखा है कि भारी-भारी सामान नहर के द्वारा ही ढोये जाने चाहिएँ।

जल-मार्ग से व्यापार करने के साधन,—अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय नावों और जहाजों की बड़ी उन्नति हो चुकी थी। व्यापार सम्बन्धी कुछ मुख्य-मुख्य नाव और जहाज निम्न-लिखित थे—

१—संयान्तीर्नाव—समुद्रों में चलनेवाले बड़े जहाज। जब ये बन्दरगाह पर पहुँचते थे, इनसे शुल्क लिया जाता था।

२—महानाव—बड़ी-बड़ी नदियों में चलनेवाले छोटे जहाज। कौटल्य ने लिखा है कि पाँच अधिकारियों से युक्त इन जहाजों को ही, गरमी और सरदी में एक रूप से बहनेवाली गहरी और बहुत बड़ी नदियों में प्रयुक्त किया जाय।

४—क्षुद्रका—छोटी नौकाएँ। कौटल्य का कथन है कि केवल बरसात में बहनेवाली (अर्थात् बरसाती) छोटी-छोटी नदियों के लिए छोटी नावों का प्रबन्ध किया जाय।

५—स्वतरणी—लोगों की अपनी-अपनी नावें, जिन पर राज्य का कोई नियंत्रण नहीं होता था।

६—हिंस्रिका—सामुद्रिक डाकुओं के जहाज या नाव। इनसे व्यापारियों को बड़ी हानि होती थी। कौटल्य ने लिखा है कि ये नष्ट कर दिये जायँ।

इस व्यापार की रक्षा के नियम—आचार्य ने जहाजों, नौकाओं तथा इनके द्वारा होनेवाले व्यापार की सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था की है। उसने मछली पकड़नेवालों से, बाहर माल भेजनेवाले व्यापारियों से, और शंख, मोती आदि निकालनेवालों से शुल्क इसलिए नियत किया कि इनकी आय से राज्य, तूफान आदि से नष्ट होनेवाली नावों और जहाज़ों की रक्षा कर सके। उनके ठहरने के लिए "तीर्थ" अर्थात् बन्दरगाह बनाये जा सकें। कौटल्य का मत है कि जल भरजाने के कारण जो माल खराब हो जाय, उस पर शुल्क कम या माफ कर दिया जाय। जलमार्ग से होनेवाले व्यापार सम्बन्धी किसी अधिकारी की असावधानी या अनुपस्थिति आदि के कारण या नाव की मरम्मत न होने की दशा में यदि नाव डूब जाय, या उसका माल गिरजाय तो नावध्यक्ष अपने पास से उसकी क्षति-पूर्ति करे।* शत्रुओं या चोर डाकुओं की नावें अथवा ऐसी नावें जो व्यापारी नगरों या बन्दरगाहों के नियमों का उल्लंघन करें, नष्ट करदी जायँ।

स्थल मार्गों की उपयोगिता—ये व्यापार-मार्ग नगर से चारों दिशाओं को जाते थे। आचार्य ने इन मार्गों की उपयोगिता की तुलना

---

* नियम से अधिक बोझा लादने, असमय, बिना आज्ञा या नियम-विरुद्ध, व्यापारी माल लेजाने की दशा में, आचार्य भिन्न-भिन्न दंड का आदेश करता है।

करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि प्राचीन आचार्यों का मत है कि दक्षिण की ओर के मार्ग की अपेक्षा उत्तर का अर्थात् हिमालय की तरफ जानेवाला मार्ग श्रेष्ठ है, क्योंकि इस ओर हाथी, घोड़े, गंध द्रव्य, दाँत, चर्म, चाँदी और सोना आदि बहुमूल्य विक्रेय वस्तुएँ बहुतायत से मिलती हैं, परन्तु कौटल्य इस मत को नहीं मानता. वह दक्षिण की ओर के मार्ग को ही श्रेयस्कर समझता है, कारण कि कम्बल, चर्म, तथा घोड़े आदि इन विक्रेय वस्तुओं को छोड़ कर हाथी आदि सब ही वस्तुएँ तथा शंख, हीरा, मणि, मोती, सुवर्ण आदि अन्य अनेक विक्रेय वस्तुएँ उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में ही अधिक होती हैं। दक्षिणपथ में भी वही वणिक-पथ उत्तम है, जो खानों के पास होकर जाता हो, जिसमें अनेक विक्रेय वस्तुएँ मिलती हों, जिसपर आना-जाना बहुत होता हो, तथा जिसमें श्रम कम हो। 'आचार्य का यह मत आजकल भी बहुत मान्य है, प्रायः समुद्र की ओर जानेवाले मार्ग को विशेष महत्व दिया जाता है।

आचार्य ने स्थल-भाग के अन्य व्यापारी मार्गों की उपयोगिता का भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। वह लिखता है कि पैदल के मार्ग की अपेक्षा गाड़ी आदि का मार्ग अधिक उत्तम समझना चाहिए, क्योंकि ऐसे मार्गों से बहुत व्यापार किया जा सकता है। देश काल के अनुसार गधे और ऊंट का मार्ग भी श्रेष्ठ समझना चाहिए, क्योंकि इनके द्वारा भी व्यापार अधिक परिमाण में किया जा सकता है। इसी प्रकार कंधों पर (बंहगी से या बैलों द्वारा) भार ढोने आदि के मार्गों के विषय में समझ लेना चाहिए।

नगरों के आन्तरिक मार्गों के भेद--कौटल्य ने अर्थशास्त्र में, नगरों के जिन भीतरी व्यापार-मार्गों का परिचय दिया है, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं:—

(१) राजमार्ग—कौटल्य बतलाता है कि तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम को, और तीन उत्तर से दक्षिण को जावें। ये आठ दंड अर्थात् सोलह गज चौड़े होते थे।

(२) रथ्या—यह मार्ग चार दंड या आठ गज चौड़ा होता था। यह रथ आदि सवारियों के काम आता था।

(३) रथ पथ—यह छोटी गाड़ियों के लिए होता था। इसकी चौड़ाई पांच अरत्नि (ढाई गज) होती थी।

(४) पशु पथ—यह चार अरत्नि (दो गज) चौड़ा होता था। इस पर विविध प्रकार के पशु चलते थे।

(५) क्षुद्र पशु पथ या मनुष्य पथ—यह दो अरत्नि (एक गज) चौड़ा होता था, और भेड़ बकरी आदि छोटे पशुओं एवं मनुष्यों के लिए होता था।

नगर से बाहर के मार्ग—अर्थशास्त्र में बतलाये हुए ऐसे मार्गों में से मुख्य ये हैं:— [१] राष्ट्र पथ (राजधानी से बड़े-बड़े नगरों को जानेवाला), [२] विवीत पथ (चरागाह को जानेवाला), [३] द्रोणमुख पथ (चार सौ गांवों के केन्द्रीय नगर का मार्ग), [४] स्थानीय पथ (आठ सौ गांवों के केन्द्रीय नगर को जानेवाला मार्ग), [५] संयानी पथ (व्यापारी मंडियों का मार्ग), [६] और

ग्राम-पथ (गाँवों को जानेवाला मार्ग), इनमें प्रत्येक की चौड़ाई सोलह गज होती थी।

मार्गों की रक्षा और निर्माण—आचार्य कौटल्य ने इन तथा अन्य मार्गों की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है। उसने लिखा है कि नगराध्यक्ष, ग्रामाध्यक्ष, और अन्य अधिकारी समय-समय पर सड़कों और पुलों की देख-रेख करें। इनको तोड़ने-फोड़नेवालों को दंड दिया जाय। कौटल्य ने विविध मार्गों के लिए 'वणिक पथ,' शब्द प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि इन मार्गों के निर्माण का एक प्रधान उद्देश्य व्यापारियों को सुविधा पहुँचाना होगा। मार्गों के दोनों तरफ पेड़ लगवाये जाते थे। कुएँ बनवाये जाते थे। रास्तों को नापने और निर्धारित फासले पर दूरी-सूचक चिन्ह लगाने की भी व्यवस्था थी।

स्थल मार्ग के व्यापार के साधन—मालूम होता है कि स्थल-मार्ग से जो व्यापार होता था, उसके वास्ते माल ढोने के लिए ऐसी गाड़ियाँ काम में लायी जाती थीं, जिन्हें घोड़े, खच्चर, गधे तथा अन्य एक खुर के पशु खींचते थे। बैल आदि भी गाड़ियों में जोते जाते थे। अर्थशास्त्र में हाथी और ऊँट का यथेष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त बंहगी के द्वारा और सिर पर रखकर भी ढुलाई का काम किया जाता था।

डाक प्रबन्ध—व्यापार में डाक के प्रबन्ध से बड़ी सहायता मिलती है। आचार्य ने कबूतरों द्वारा संदेश भेजने का उल्लेख किया

किया है। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र से 'शीघ्रवाहन' अर्थात् तेज सवारियों एवं दूतों या हरकारों द्वारा भी समाचार भेजे जाने की बात मालूम होती है। कौटल्य ने लिखा है, "इशारे पर चलनेवाले घोड़े की चाल को 'नारोष्ट्र' कहते हैं। गाड़ी के अधम, मध्यम तथा उत्तम घोड़े ६, ९ तथा १२ योजन, और सवारी के घोड़े ५, ७½ तथा १० योजन चलते हैं।"※ हम पहले बता चुके हैं कि मौर्य काल में यहाँ सड़कों का प्रबन्ध कितना उत्तम था, इससे डाक भेजने में भी सुविधा होती थी।

विशेष वक्तव्य— कुछ लेखक तत्कालीन परिस्थिति की आधुनिक से तुलना करते हुए उस समय के व्यापार-मार्गों तथा साधनों को बहुत अवनत अवस्था का बतलाया करते हैं। वे कहा करते हैं कि प्राचीनकाल में यहाँ रेलें नहीं थीं, डाक, तार, टेलीफोन आदि भी नहीं थे। उन्हें चाहिए कि इस बात का विचार करें कि उस समय अन्य देशों की तुलना में भारतवर्ष के व्यापार-मार्ग और साधन कितने उन्नत अवस्था में थे, तथा इस समय कुछ नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार होजाने पर भी सभ्य संसार में हमारा स्थान कहाँ है।

※ प्रो० उदयवीर जी शास्त्री इस प्रसंग में लिखते हैं कि एक बार में घोड़े को अधिक से अधिक इतना चलाया जाय, फिर उसे विश्राम करने का अवसर दिया जाय।

सतरहवाँ अध्याय

देशी व्यापार

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में हम कौटलीय अर्थशास्त्र में बतलाये हुए व्यापार के मार्गों और साधनों पर प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम आचार्य के व्यापार सम्बन्धी विचारों का परिचय देंगे। पहले देशी अर्थात् आन्तरिक व्यापार का विषय लेते हैं। इस व्यापार से अभिप्राय देश की सीमा के भीतर भिन्न-भिन्न गाँवों, नगरों या प्रान्तों के आदमियों में होनेवाला व्यापार है।

कौटल्य के समय में यह व्यापार बहुत होता था। यद्यपि रोजमर्रा काम में आनेवाली चीज़ों के सम्बन्ध में प्रायः प्रत्येक ग्राम और नगर स्वावलम्बी होता था, उसे दूसरों के आश्रित नहीं रहना पड़ता था, तथापि भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थान कुछ विशेष पैदावारों, दस्तकारियों उद्योग-धन्धों तथा धातुओं और रत्नों आदि के लिए प्रसिद्ध थे। व्यापारी लोग विविध पदार्थों को देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में ले जाकर बेचते थे। इस प्रकार देश भर में लोगों को कहीं इनका अभाव नहीं रहता था।

व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप—कौटल्य की व्यापार-नीति की एक विशेषता यह है कि वह व्यापार में राजकीय हस्तक्षेप के बहुत

पक्ष में है, परन्तु यह हस्तक्षेप जनता के हित की दृष्टि से था। उसे प्रजा की भलाई का यथेष्ट ध्यान है। वह लिखता है कि अपने देश तथा परदेश में उत्पन्न हुए दोनों प्रकार के पण्यों का विक्रय आदि राजा को इस प्रकार कराना चाहिए, जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो। यदि किसी काम में बहुत अधिक भी लाभ होता हो परन्तु उस कार्य के करने से प्रजा को कष्ट पहुँचता हो तो राजा उस कार्य को तत्क्षण रोक देवे। इसी प्रकार 'नागरिक के कार्य' शीर्षक प्रकरण में आचार्य कहता है कि 'व्यापारी अपने विश्वस्त यात्रियों को परस्पर एक-दूसरे की दुकानों पर ठहरा लेवें। परन्तु जो पुरुष देश-काल के विपरीत विक्रय करनेवाला हो उसकी सूचना नगराधिकारी को दी जाय।

व्यापार सम्बन्धी नियम; राजाज्ञा—जैसा कि हम 'व्यवस्था' शीर्षक अध्याय में बता आये हैं, कौटल्य ने राज्य को व्यापारिक संस्था का भी रूप दिया है, जिससे प्रजा के साथ-साथ राज्य की भी दुकानें चलें। उक्त अध्याय में ही हमने इस प्रकार की प्रतिद्वन्दिता का भी विचार किया है। कुछ तो इस प्रतिद्वन्दिता को निर्बाध रूप से चलने देने के लिए, और कुछ सरकारी दूकानों पर काम करनेवाले कर्मचारियों के नियन्त्रण के लिए आचार्य ने कई नियम दिये हैं। कौटल्य का मत है कि कोई व्यक्ति राज्य की आज्ञा अर्थात् लाइसेंस पाये बिना किसी प्रकार का व्यापार बड़े परिमाण में न करे। लाइसेंस देने में राज्य की ओर से बाधा उपस्थित न की जाय। हाँ, इस बात का यथेष्ट नियन्त्रण रखा जाय कि झूठा व्यापार करनेवाले सट्टेबाज व्यापारी, बारबार दुकानें खोलकर तथा दिवाला

निकालकर खुले तौर से व्यापार के रूप में जुआ न खेल सकें। कौटल्य वास्तविक व्यापार चाहता था, वदनी या सट्टा-फाटका रोकने के लिए उसने उक्त राजाज्ञा का नियम बनाया था।

वस्तुएँ बेचने के स्थान— कौटल्य ने इस बात की ओर यथेष्ट ध्यान दिया है कि नगर में भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ बेचने के स्थान पृथक्-पृथक् हों।* प्रत्येक व्यापारी अपना माल उसी स्थान में बेचे, जो राज्य की ओर से उस माल के लिए निश्चित किया गया हो। कारीगर आदि भी अपना माल वहीं लाकर बेचें। इस प्रकार उन्हें अपने घर पर अथवा माल तैयार होने की जगह सौदा करने और ग्राहक को ठगने का अवसर न मिले।

वनों में मिलनेवाले पदार्थ—कुछ जंगलों पर राज्य का अधिकार होता था। इनकी देखभाल आदि के लिए जो राजकर्मचारी रहता था, उसे अर्थशास्त्र में 'कुप्याध्यक्ष' लिखा है। आचार्य का कथन है कि यह अधिकारी, जंगलों में मिलनेवाले पदार्थ अर्थात् लकड़ी, छाल, पशुओं की खाल, दांत, सींग आदि संग्रह कराये और इनसे बनायी जानेवाली अन्य विविध चीज़ें बनवाने की व्यवस्था करे। बिना अधिकार जंगल से लकड़ी काटनेवालों से जुरमाना और राजकर वसूल किया जाय।

---

* वह लिखता है 'कि गंध (खुशबू, इतर, फुलेल आदि) माला, अन्न तथा घी तेल आदि की दूकानें पूर्व-दक्षिण में हों।...... और पका हुआ अन्न बेचनेवाली दूकानें (होटल आदि) तथा शराब और मांस की दूकानें दक्षिण दिशा में हों।' इसी प्रकार उसने अन्य दूकानदारों के लिए अलग स्थानों की व्यवस्था की है।

खनिज व्यापार—खनिज कार्य राज्य की ओर से ठेके पर दिया जाता था, अथवा राज्य स्वयं अपने प्रबन्ध में खानें खुदवाता था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सब खानें राज्य की ही होती थीं। खानें प्रजा की भी हो सकती थीं। हाँ, आचार्य का कथन है कि जो धातु बिक्री के लिए तैयार हो जाय, उसका किसी एक नियत स्थान से विक्रय कराना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति राजाज्ञा के बिना किसी स्थान में किसी धातु की उत्पत्ति करके क्रय-विक्रय करने लगे तो उसे राजा की ओर से दंड मिलना चाहिए।

ऐसा मालूम होता है कि खान का काम करनेवाले व्यापारियों को आरम्भ में बहुतसा रुपया लगाना पड़ता था, और राज्य उनके उस रुपये के, तथा ठेके की रकम के, वसूल होने के लिए अपनी देख-रेख में खानों की व्यवस्था कराता था। आचार्य ने लिखा है कि 'खान के ऊपर यदि और लोगों का बहुत धन देना होगया हो, उसको चुकाकर ही खान की आमदनी हो सकती हो, अथवा यह कार्य अत्यधिक यत्न से साध्य हो, तो आकराध्यक्ष को चाहिए कि वह थोड़ा-थोड़ा करके लोगों के धन को धीरे-धीरे चुका देवे, अथवा धातु का कुछ भाग एक साथ राजा को देकर, उसके बदले में खजाने से रुपया लेकर, लोगों के धन को चुकता कर देवे। यदि थोड़े ही धन और परिश्रम से यह कार्य सिद्ध होनेवाला हो तो स्वयं ही इस कार्य को पूरा कर देवे।'*

---

* आजकल राज्य ठेकेदारों से ठेके की रकम वसूल करलेने के उपरान्त, उनके हानि-लाभ की बहुत कम चिन्ता करता है; ऐसी दशा में आचार्य का उक्त विचार कितना महत्त्वपूर्ण है।

शराब—शराब सरकार के व्यापार की वस्तु थी, अर्थात् कोई व्यक्ति इसे बनाकर बेच नहीं सकता था। कौटल्य के नियमों के अनुसार ठेकेदार को भी सरकारी कारखानों में ही बनी हुई शराब (मोल लेकर) बेचने का अधिकार था। हाँ, प्रजा विवाह या त्यौहार आदि के विशेष अवसरों पर अपने काम में लाने के लिए शराब बना सकती थी। यदि ऐसे अवसर पर अपने लिए बनायी हुई शराब को कोई व्यक्ति बेचना चाहता तो उसके लिए आवश्यक था कि पाँच प्रति शतक शुल्क दे।

नमक—नमक के लिए आचार्य ने कम प्रतिबन्ध रखा है। प्रत्येक व्यक्ति नियमानुसार अनुमति लेकर नमक बना सकता और आवश्यक 'भाग' देकर बेच सकता था। वानप्रस्थ अर्थात् वन में रहनेवाले राज्य की अनुमति लिए बिना भी स्वयं नमक को लेकर उसका उपभोग कर सकते थे। श्रोत्रिय (वेदों का अध्ययन करनेवाले), तपस्वी, तथा राजा की इच्छानुसार काम करनेवाले बेगारी पुरुष भी बिना शुल्क के अपने उपभोग मात्र के लिए नमक ले जा सकते थे।*

तोल-माप—व्यापार के लिए वस्तुओं के तोल-माप ठीक होने की बड़ी आवश्यकता होती है। आचार्य ने इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया

---

* नमक उस समय विदेशों से भी यहाँ आता था। परन्तु कौटल्य ने स्वदेशी नमक के व्यवसाय की विदेशी नमक के व्यवसाय से रक्षा करने की यथेष्ट व्यवस्था की थी। उसने विदेशी नमक पर विशेष कर (षड्भाग) लगाया था।

है। स्पष्ट और व्यौरेवार नियम लिखकर वह इस बात की यथासम्भव कोई गुंजायश नहीं रहने देता कि व्यापारी लोग ग्राहकों को ठग सकें या धोखा दे सकें। उसने अर्थशास्त्र में सोलह प्रकार की छोटी-बड़ी तराजू और काँटों का, और चौदह प्रकार के बाटों का, निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त, उसने घी, दूध, तेल आदि द्रव्यों और अन्न आदि सूखे पदार्थों के माप के लिए चिन्ह लगे हुए पात्रों एवं वस्त्र आदि के माप के लिए गजों के सम्बन्ध में भी यथेष्ट व्यौरेवार नियम बनाये हैं। उसने लिखा है कि यौतवाध्यक्ष* (तोल माप संशोधन करनेवाला राजकीय अधिकारी) तुला और बाट आदि बनवावे और इन्हें निर्धारित मूल्य पर बेचे। व्यापारियों को चाहिए कि प्रत्येक चार महीने के बाद तुला और बाट आदि का परिशोधन करावें; ऐसा न करनेवालों को दंड दिया जाय।

राजकीय कारखानों में बने हुए बाट तुला आदि ही प्रामाणिक समझी जाती थी। इन वस्तुओं को बनाने-बेचने का काम एक प्रकार से तत्कालीन राज्य का एकाधिकार व्यापार माना जा सकता है।

सार्वजनिक हित—'श्रम या जनता' शीर्षक (दसवें) अध्याय में हम बता आये हैं कि आचार्य ने इस बात की यथेष्ट व्यवस्था की है कि जीवन-निर्वाह सम्बन्धी पदार्थों में किसी प्रकार की मिलावट न की जाय। इसके अतिरिक्त उसने सोना, चाँदी, हीरा, मुक्ता, रेशमी ऊनी वस्त्र

---

* अर्थशास्त्र के वर्तमान सभी प्रकाशित संस्करणों में 'पौतव' (और 'पौतवाध्यक्ष') शब्द आया है। शुद्ध शब्द 'यौतव' है, जिसका अर्थ मान, तौल, या वजन आदि है।

आदि वस्तुओं को भी, असली के स्थान में नकली बेचनेवालों का यथेष्ट नियंत्रण किया है। उसने इस बात के लिए समुचित विधान किया है कि व्यापारी अपने माल को जैसा है वैसा ही बतावें, ग्राहकों से अनुचित कीमत लेने के लिए वे घटिया या खराब माल को न छिपावें और न चुँगी के लोभ से बढ़िया माल को गुप्त रखें। सर्वसाधारण के हित का ध्यान रखते हुए वह यह भी लिखता है कि राष्ट्र को पीड़ा पहुँचानेवाले तथा कोई अच्छा फल न देनेवाले माल को राज्य नष्ट करा देवे और जो प्रजा को उपकार करनेवाला तथा अपने देश में कठिनता से मिलने-वाला धान्य आदि या अन्य प्रकार का माल हो उस पर चुंगी न ली जाय, जिससे ऐसा माल अधिक मात्रा में अपने देश के अन्दर आ सके।

अठारहवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—पिछले अध्याय में कौटल्य के देशी व्यापार सम्बन्धी विचार बतलाये जा चुके हैं। इस अध्याय में उसके विदेशी व्यापार सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जाता है। जब किसी देश में आयात-निर्यात करने के साधनों की उन्नति होजाती है, और सभ्यता के विकास के कारण वहाँ के आदमी अपनी आवश्यकता से अधिक माल बनाने लगते हैं या उन्हें ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता होने लगती है, जो उनके यहाँ नहीं बनतीं, तो वे दूसरे देशवालों से व्यापार करने लग जाते

हैं। कभी-कभी कोई विजेता भी अपने देश की वस्तुओं का व्यापार, पराजित देश में बढ़ाने का प्रयत्न करता है।

विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति—कौटल्य अपने नागरिकों को, विदेशों में मिलनेवाली असुविधाओं से, यथासम्भव बचाना ही अच्छा समझता है। उसका मत है कि थोड़े लाभ के लिए, या जिस रास्ते से बहुत तकलीफ होती है उस रास्ते से, व्यापार नहीं करना चाहिए। विदेश में जाने से पहले, माल लेजाने का किराया, मार्ग में खाने-पीने और रक्षा का व्यय, अपने विक्री के और बदले में लिये जानेवाले माल के मूल्य का सामंजस्य, मौसम, दैवी आपत्तियों की सम्भावना, एवं विदेश के रीति-रिवाज और व्यापार तथा आढ़त आदि के नियम जान लेना चाहिए। आचार्य का मत है कि यदि तदुपरान्त व्यापार अनुकूल जान पड़े तो विदेश में व्यापार करने के लिए जाना उचित है। कौटल्य अपनी प्रजा के विदेशी ऋण सम्बन्धी मुकदमे सुनने तथा ऋण वसूल कराने की जिम्मेवरी लेने को तैयार नहीं है। उसकी राय है कि प्रजा को, विदेश में वहाँ के राजनियमों के अनुसार व्यवहार करना चाहिए, तथा वहाँ के सब कर आदि देते रहना चाहिए। अस्तु, यद्यपि कौटल्य विदेशी व्यापार को, लाभजनक होने की दशा में, बुरा नहीं कहता, तथापि वह अपने नागरिकों को विदेश में मिलनेवाली विविध बाधाओं और कठिनाइयों की ओर उदासीन भी रहना नहीं चाहता।

कौटल्य की सम्मति है कि विदेशी व्यापारियों को अपने यहाँ बुलाकर बसाया जाय और व्यापार करने दिया जाय। वह उनके लिए लाभ की दर द्विगुण कर देता है। उदाहरणतः स्वदेशी व्यापारियों को

जिस प्रकार के माल पर पाँच प्रति सैकड़ा लाभ लेने की अनुमति हो, विदेशी व्यापारी उस पर दस प्रति सैकड़ा तक लाभ ले सकें। विदेश से माल मँगाने की दशा में कई शुल्क छोड़े जायँ। विदेश से व्यापारार्थ आये हुए आदमियों पर यदि स्वदेशवासियों का कोई ऋण हो तो उसका निर्णय आदि साधारणतः बिना अदालती कार्रवाई के, निजीतौर पर करा दिया जाय। विदेशी व्यापारियों के लिए विविध प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था करता हुआ भी आचार्य इस बात का यथेष्ट ध्यान रखता है कि वे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न पहुँचावें।

कौटल्य की, विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति का विचार करते हुए दो बातें ध्यान में रखी जानी आवश्यक हैं। प्रथम तो वह नमक जैसे उन पदार्थों के व्यापार को उत्तेजना नहीं देता जो यहाँ बनते हों; वह ऐसे पदार्थों को भारी कर लगाकर विदेश से आने से रोकता है। दूसरे, उस समय प्रायः अन्य देश कारीगरी का माल तैयार करनेवाले नहीं थे। इसलिए कौटल्य की नीति देश कालानुसार बहुत हितकर थी।

विदेशों से आनेवाली वस्तुएँ—कौटल्य के समय में यहाँ विदेशों से आनेवाली वस्तुओं की संख्या बहुत परिमित थी।❀

❀ विदेशों से अभिप्राय यहां वर्तमान भारत की सीमा से बाहर के समस्त देशों का नहीं है, वरन् केवल उन देशों से है, जो चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा से बाहर के थे। इस सीमा का परिचय 'भूमि' शीर्षक अध्याय में दिया जा चुका है।

मूल्यवान पदार्थों में कई प्रकार के मोती जो ईरान की खाड़ी, अफरीका के किनारे और यूनान सागर से निकाले जाते थे, बाहर से आनेवाली वस्तुएँ थीं। कपूर, दालचीनी आदि मसालों के अतिरिक्त मूँगा भारतीय महासागर के द्वीपों से आता था। चीनी, रेशम विशेषतया 'क्रिमितान' और कच्चा रेशम चीन से आता था। सम्भव है कि हिमालय पार के देशों से कई तरह के चमड़े के वस्त्र और 'हारहनूज' शराब यहाँ आती हो। अर्थशास्त्र से यह अनुमान होता है कि उस समय घोड़े यहाँ अरब और ईरान से आते थे।

इन वस्तुओं के अतिरिक्त केवल सोना चाँदी को छोड़कर, जो यहाँ से जानेवाले पदार्थों के मूल्य के रूप में रोम, यूनान, चीन और अरब आदि देशों से आते थे, अन्य कोई विदेशी पदार्थ बहुत कीमत का अथवा बड़ी मात्रा में यहाँ उस समय आता मालूम नहीं होता।

भारतवर्ष से बाहर जानेवाली चीजें--प्राचीन और स्वतंत्र भारतवर्ष के विदेशी व्यापार का दृष्टिकोण सदैव यह रहा है कि विदेशों को वे ही चीजें भेजी जायँ, जो अपने यहाँ की माँग से अधिक हों और जीवन के लिए उपयोगी तथा आवश्यक हों। इस प्रकार न तो यहाँ से अन्न, घी आदि पदार्थ बाहर भेजे जाते थे, और न अफीम, भंग आदि मादक द्रव्य ही। केवल ऊनी, सूती, रेशमी आदि विविध प्रकार के बढ़िया वस्त्र, हाथी-दांत की बनी तलवार की मूठ, कवच, तलवारें, हड्डी, स्नायु आदि के बने कारीगरी के पदार्थ, सूखा मांस मसाले, औषधियाँ, कपूर, लोभान, खस, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्य

ही भारतीय व्यापारी विदेशों में स्वयं जाकर या विदेशियों को यहाँ बुलाकर बेचते थे।

पहले बतलाया जा चुका है कि कौटल्य, राज्य की ओर से विदेशी व्यापारियों को विविध सुविधाएँ देने के पक्ष में है। यद्यपि वह प्रत्येक प्रकार की उपयोगी वस्तु स्वदेश में ही पैदा या तैयार करने का आदेश करता है, उसका आदर्श देश के एकान्त स्वावलम्बी जीवन का नहीं है, वह संसार के भिन्न-भिन्न भागों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध करने का इच्छुक है।

विदेशी विनिमय—आजकल विदेशी व्यापार के लिए अन्यान्य बातों में विदेशी सिक्कों के विनिमय सम्बन्धी ज्ञान की भी बहुत आवश्यकता होती है। सम्भवतः प्राचीन काल में इस ज्ञान की आवश्यकता विशेष नहीं होती थी क्योंकि उस समय का व्यापार प्रायः वस्तुओं के अदल-बदल से हो जाता था। अस्तु, कौटलीय अर्थशास्त्र में विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में कुछ उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य ने राजकोष में केवल उन सिक्कों के लियेजाने का आदेश किया है, जो देश के कानून के अनुसार बनाये गये हों; इससे विदेशी सिक्कों के स्वीकार न किये जाने का भाव निकलता है। किन्तु उसने ऐसे सोने या स्वर्ण-मुद्रा के लिये जाने का भी उल्लेख किया है, जिसे लक्षणाध्यक्ष अर्थात टकसाल के अधिकारी ने जांच करके शुद्ध ठहराया हो। ऐसे अवसर पर खजानचियों को विदेशी स्वर्ण-मुद्राओं का मूल्य, उनकी धातु के मूल्य के अनुसार, निश्चय करना पड़ता होगा।

विशेष वक्तव्य—अर्थशास्त्र में आयात-निर्यात के अंक दिये हुए न होने से हम तत्कालीन विदेशी व्यापार की आधुनिक व्यापार से तुलना करने में असमर्थ हैं। तथापि यह स्पष्ट है कि इस समय रेल और मोटर आदि के कारण माल लाने-लेजाने की जैसी सुविधाएँ हैं, वे उस समय न होने से तत्कालीन व्यापार का परिमाण अवश्य ही बहुत कम होगा। भारी पदार्थ विदेशों को जाने या वहाँ से आने सहज न थे। पहले सूचित किया जा चुका है कि अन्न की यहाँ से निर्यात नहीं होती थी। यह तो सभी जानते हैं कि विलायती वस्त्र तथा शौकीनी का तैयार माल यहाँ नहीं आता था। भारतवर्ष अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिए परावलम्बी नहीं था, और यहाँ के कच्चे माल से विविध वस्तुएँ तैयार करने से अनेक आदमियों का निर्वाह होता था।

कुछ आदमी यह समझते हैं कि यदि प्राचीन काल में भारतवर्ष का विदेशी व्यापार आजकल की अपेक्षा कम था, तो यह इसकी तत्कालीन आर्थिक अवनति का द्योतक है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। आयात-निर्यात के परिणाम के घटने या बढ़ने मात्र से देश की आर्थिक उन्नति या अवनति प्रमाणित नहीं होती। देश की आर्थिक स्थिति का अनुमान करने में यह विचार करना होता है कि आयात-निर्यात किस-किस प्रकार के पदार्थों की होती है, और उनका देश-निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से यह कहा जासकता है कि विदेशी व्यापार तत्कालीन उन्नति का ही सूचक है।

उन्नीसवाँ अध्याय

भू-कर

हम पहले कह चुके हैं कि धनोत्पत्ति में भूमि, श्रम, पूँजी, और व्यवस्था—इन चार साधनों का उपयोग होता है। अतः यह आवश्यक ही है कि जो धन उत्पन्न हो, उसमें से प्रत्येक साधन को उसका प्रतिफल दिया जाय। इस क्रिया को आधुनिक अर्थशास्त्र में धन-वितरण कहा जाता है। अब कौटल्य के 'इस विषय सम्बन्धी विचार दिये जायँगे। पहले भू-स्वामी को, उसकी भूमि के किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उपयोग किये जाने की दशा में, मिलने-वाले प्रतिफल, अर्थात् लगान सम्बन्धी विचारों पर प्रकाश डाला जाता है।

प्राचीन काल में भू-स्वामित्व—लगान भूमि के स्वामित्व पर निर्भर है, अतः यह जानलेना आवश्यक है कि कौटल्य से पूर्व यहाँ भू-स्वामित्व सम्बन्धी विचार क्या था, और कौटल्य के समय में उसमें क्या परिवर्तन हुआ।

कौटल्य के पहले के तथा स्वयं कौटल्य के समय के भू-स्वामित्व सम्बन्धी विचार जानने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वाधीन देश में भूमि पर प्रजा के स्थान पर राज्य का अधिकार

हो जाने से वैसा अन्तर कदापि नहीं होता, जैसा पराधीन देश में होता है। *

अस्तु, अति प्रचीन काल में यहाँ जमीन सामान्यतः राजा की सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी, वह सब की सम्मिलित सम्पत्ति होती थी। जो आदमी जिस भूमि को परिश्रम करके साफ और उपजाऊ बनाता, उसपर उसीका अधिकार होता था। इस प्रकार कृषक ही भूमि के स्वामी माने जाते थे। हाँ, सरकारी सहायता या रक्षा के उपलक्ष्य में, फसल तैयार होने पर उपज का कुछ अंश राजा को देने की रीति थी। किन्तु इससे भूमि पर अधिकार राजा का नहीं होता था।

कौटल्य और भू-स्वामित्व—स्थानाभाव से हम इस सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप महाभारत या मनुस्मृति आदि के उद्धरण नहीं दे सकते और कौटल्य के अर्थशास्त्र का ही एक उद्धरण देकर संतोष करते हैं। आचार्य ने लिखा है कि 'पहले मात्स्यन्याय प्रचलित था। (जैसे बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, ऐसे ही बलवान निर्बलों के स्वत्व

---

* जब 'राज्य' शब्द 'प्रजा' का पर्यायवाची हो, तो यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि देश की सब भूमि राज्य की है। परन्तु जिस दशा में 'राज्य' (State) कहने से परदेशी लोगों का एक ऐसा छोटासा समूह समझा जाय जो भूमिकर की आमदनी में से लगभग एक तृतीयांश तो अपने नौकरों ही के वेतन में खर्च कर देते हैं, जिनका न तो यहाँ पर स्थायी घर है, और न जिनको देश के हानि-लाभ से कुछ काम है, तो देश की भूमि को राज्य की कहना कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता।

—महाभारत मीमांसा

अपहरण करते थे), इससे तंग आकर जनता ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया। धान्य का छठा हिस्सा तथा व्यापार की आमदनी का दसवाँ हिस्सा सुवर्ण या नकदी में राजा के लिए नियत किया गया। इस भृत्ति (पोषण या वेतन) को पाते हुए राजाओं ने प्रजा के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लिया। इस प्रकार राजा प्रयुक्त किये गये दंड और करों से प्रजा की बुराइयों को नष्ट करते हैं। इसीलिए जंगल में रहनेवाले (ऋषि मुनि जन) भी अपने बीने हुए नाज का छठा हिस्सा राजा को दे देते हैं, कि यह उस राजा का हिस्सा है, जो हमारी रक्षा करता है।' इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राजा को दिया जाने वाला धान्य का भाग उसके रक्षा करने के कार्य का वेतन था, वह उसके भू-स्वामी होने के आधार पर नहीं मिलता था, और राज्य वास्तव में भूमि का स्वामी नहीं माना जाता था।

कौटल्य के समय में इस पद्धति में कुछ परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि उस समय कुछ भूमि पर राजा की ओर से 'सीताध्यक्ष' नामक अधिकारी दासों, कार्य करके दंड को भुगतानेवाले अपराधियों, अथवा वेतनभोगी श्रमजीवियों द्वारा खेती कराता था। इस भूमि पर राज्य का स्वामित्व होता था। इससे होनेवाली आय 'सीता' कहलाती थी। कुछ भूमि गाँववालों को इस विचार से दी जाती थी कि वे राज्य को निर्धारित संख्या में सैनिक अथवा श्रमजीवी दें। शेष भूमि खेती करनेवालों को बिना लगान, या कुछ लगान पर, दी जाती थी। इस भूमि पर उनका अधिकार भिन्न-भिन्न परिमाण में होता था; इस भूमि से राज्य को जो

आय होती थी, उसे 'भाग' कहा गया है। 'सीता' और 'भाग' आय की इन दो मद्दों से यह स्पष्ट है कि कौटल्य के समय में भी सब अधिकांश भूमि राज्य की मिलकीयत न थी।*

काश्तकारों के भेद; माफी लगानवाले—(१) कौटल्य ने जंगलों को काटकर नये नगर बसाने के प्रसंग में ऋत्विक, आचार्य पुरोहित और श्रोत्रियों को बिना लगान भूमि देने का विधान किया है। † इस प्रकार दी हुई भूमि ब्रह्मदेय कहलाती थी, और ये काश्तकार ब्रह्मदेय काश्तकार कहे जाते थे। आचार्य का कथन है कि इस जमीन को राज्य वापिस न ले। इसे ऋत्विक आदि की संतान निरंतर भोगने की अधिकारी हो। इनसे किसी प्रकार का 'भाग' या राजकर न लिया जाय। ये काश्तकार आवश्यकता होने पर अपनी भूमि अन्य ब्रह्मदेय काश्तकारों के यहाँ ही गिरवी रखकर ऋण ले सकते हैं। ये उसे बेच भी ऐसे ही काश्तकारों को सकते हैं। ये अन्य स्थानों में रहते हुए भी अपनी सम्पत्ति के अधिकारी हैं। (सम्भव है ये अन्य पुरुषों या शिकमी काश्तकारो द्वारा खेती करा सकते हों)

(२) कौटल्य ने कर न देनेवाले अन्य काश्तकार ऐसे बतलाये हैं, जिनके भौम अधिकार परिमित होते थे। वह लिखता है कि अध्यक्ष (भिन्न-भिन्न कार्यों का निरीक्षण करनेवाले प्रधान अधिकारी)

---

* 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' के आधार पर।

† श्री० जगन्मोहन जी वर्मा का मत है कि राजा उसी भूमि को औरों को दान में दे सकता था, जो उसकी निज अधिकृत हो। (माधुरी, वर्ष २, खंड १, संख्या ४)

संख्यापक (गणना करनेवाले अर्थात् सरकारी दफ़्तरों में कलर्क आदि का काम करनेवाले), गोप (दस गाँवों के अधिकारी) स्थानिक (नगर का अधिकारी पुरुष), अनीकस्थ (हाथियों को शिक्षा देने वाले), चिकित्सक, अश्वदमक (घोड़ों को सिखानेवाले) और जंघाकारिक (दूर-दूर के स्थानों में जाने-आने से अपनी आजीविका प्राप्त करनेवाले, हरकारे आदि) के लिए भी राजा भूमि प्रदान करे, परन्तु इन लोगों को अपनी भूमि बेचने का तथा गिरवी रखने का अधिकार न हो, ये उसका केवल भोग कर सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के काश्तकार माफ़ी लगानवाले होते थे।

करद काश्तकार—लगान देनेवाले किसानों के सम्बन्ध में कौटल्य लिखता है कि जिन्हें खेती के लिए उपयोगी ठीक तैयार की हुई भूमि दी जाय, वह जिसके नाम से दी जाय उसके ही जीवन-काल तक उसके पास रह सकती है; तदनंतर राजा को अधिकार है कि वह उस जमीन को उस पुरुष के पुत्रादि को देवे अथवा अन्य किसी को। लगान देनेवाले जिन किसानों को वंजर भूमि दी गयी है, और उन्होंने अपने परिश्रम से उसे खेती के योग्य बनाया है, राजा को चाहिए कि उन किसानों से उस जमीन को कभी न ले। ऐसी जमीन पर किसानों का पूर्ण अधिकार रहे।

खेती न की जाने की दशा में राज्य की व्यवस्था—कौटल्य को इस बात का बड़ा ध्यान था कि कृषि-योग्य भूमि से खेती अवश्य की जाय, वह पड़ती न रहे। आचार्य लिखता है कि यदि कोई किसान जमीन में खेती नहीं करता, उसे वैसे ही पड़ी रहने देता

है तो राजा को चाहिए कि उससे वह जमीन छीनकर खेती करनेवाले किसी अन्य किसान को दे देवे, अथवा ऐसे किसान के न मिलने पर उस जमीन में गाँवों के अधिकारी पुरुष या व्यापारी लोग खेती करें।

ज़मींदारी—अर्थशास्त्र में ऐसा कोई शब्द नहीं आता, जिसका अर्थ ज़मींदार किया जा सके। ब्रह्मारण्य (तपस्वियों के लिए छोड़े हुए जंगल) सोमारण्य (यज्ञ के लिए छोड़े हुए जंगल) देव-स्थान तथा पुण्य-स्थानों की भूमि और चरागाहों की भूमि को छोड़कर शेष ऐसी भूमि को, जिसमें किसी की खेती न होती हो, काश्तकार नौ-तोड़ करके खेती के लिए ले सकते थे।

लगान की मात्रा; लगान जिन्स में देने से सुविधाएँ—कौटल्य ने लगान का परिमाण, साधारणतया उपज का छठा हिस्सा निर्धारित किया है, विशेष दशाओं में यह मात्रा पंचमांश अथवा चतुर्थांश, तथा राज्य के अर्थ-संकट-ग्रस्त होने पर तृतीयांश तक करने का भी उसने विधान किया है।

प्राचीन काल में लगान उपज के अनुपात से तो चुकाया ही जाता था, इसके अतिरिक्त वह प्रायः जिन्स में ही दिया जाता था, नकदी में नहीं। कौटल्य ने भी इसी का उल्लेख अथवा अनुमोदन किया है। इससे प्रजा को कई प्रकार की सुविधाएँ होती हैं। उपज के न्यूनाधिक्य से होनेवाले हानि-लाभ में राज्य भी भागीदार होता है, इस प्रकार फसल खराब होने की दशा में काश्तकार पर लगान का व्यर्थ भार नहीं पड़ता। राज्य फसल की रक्षा करने तथा उपज बढ़ाने की ओर यथेष्ट ध्यान देता है, वह सिंचाई आदि का अच्छा प्रबन्ध करता है,

और किसानों को समय-समय पर उचित सहायता या परामर्श आदि देने की व्यवस्था करता है। राज्य और किसान दोनों का हित या स्वार्थ समान होने से दोनों का अधिक सहयोग होता है। उनमें वृथा संघर्ष नहीं होता, प्रजा सम्पन्न रहती है, राजकीय भाग चुकाने के लिए, उसे अपने हल बैल आदि बेचने नहीं पड़ते।

बीसवाँ अध्याय

वेतन

श्रमजीवियों को अपने श्रम के बदले जो प्रतिफल मिलता है, उसे मजदूरी या वेतन कहते हैं। यद्यपि सर्वसाधारण की भाषा में छोटे दर्जे के श्रमियों की आय को मजदूरी, और प्रतिष्ठित श्रमियों की आय को वेतन कहा जाता है, किन्तु आर्थिक परिभाषा के विचार से इनमें कोई भेद नहीं माना जाता।

नकद और असल वेतन—कौटल्य के वेतन सम्बन्धी विचारों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पहले यह जान लेना चाहिए कि आजकल वेतन प्रायः नकदी अर्थात् रुपये-पैसे में दिया जाता है। इसके विपरीत, बहुत प्राचीनकाल में श्रमियों को उनके श्रम के बदले अन्न-वस्त्र आदि ऐसी चीजें दी जाती थीं, जिनकी उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यकता होती थी, जिनका वे उपभोग करते थे। इस

प्रकार की चीजें देना असल मजदूरी देना कहा जाता है। कौटल्य ने दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारणतया प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चित करता है, तो साथ ही भोजनादि (भक्त या भत्ता) भी ठहराता है। इस प्रकार श्रमजीवी अपने खाने-पीने की ज़रूरतों से निश्चिन्त रहता है, और नकद वेतन से अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है *

वेतन की दर—आचार्य ने भिन्न-भिन्न श्रमजीवियों के वेतन की दर विस्तारपूर्वक लिखी है। कुछ मुख्य बातें ये हैं:—खेती की रखवाली करनेवाले, ग्वाले, दास, तथा अन्य काम करनेवाले नौकरों के लिए प्रत्येक पुरुष के परिश्रम के अनुसार ही भोजन आदि का प्रबन्ध किया जाय। इसके अतिरिक्त इनको प्रति मास सवा पण नियत वेतन दिया जाय। इसी प्रकार अन्य कारीगरों के लिए भी उनके परिश्रम के अनुसार ही भोजन और वेतन दिया जाय।

मोटे कपड़े की धुलाई एक माषक से दो माषक तक, तथा रंगीन कपड़ों की इससे दुगनी होनी चाहिए।

---

* आजकल विशेषतया कल-कारखानों के श्रमजीवी नकद वेतन पाते हैं, उससे चाहे वे भोजन-वस्त्रादि की आवश्यकता की पूर्ति करें, अथवा उसे पान-बीड़ी, सिग्रेट, शराब या अन्य शौकीनी और विलासिता की चीजों के खरीदने में खर्च कर डालें। पुनः आधुनिक काल में बहुधा व्यवस्थापक तथा वेतन देनेवाले इस बात का विचार नहीं करते कि श्रमजीवियों को जो नकद वेतन दिया जाता है, उससे उनका भरण-पोषण यथेष्ट रूप में हो भी सकता है या नहीं।

सुनार को एक धरण (सोलह माशे) चाँदी की वस्तु बनाने पर एक माषक वेतन दिया जाय, सोने की चीज की बनवाई के लिए उतने सोने का आठवाँ हिस्सा वेतन दिया जाय। विशेष बढ़िया काम करने पर दूना वेतन दिया जाय।

ताँबा, सीसा, कांसा, लोहा, पीतल की चीज की बनवाई धातु के मोल का पाँचवाँ हिस्सा दिया जाय।

कुशल कारीगरों को प्रतिवर्ष ५०० से २००० पण तक दिया जाय।

चित्रकार, पादात (गदका, बनैट, तलवार, आदि खेलने में चतुर), हिसाब करनेवाले तथा लेखक आदि को ५०० पण वार्षिक दिया जाय।

कुशीलव (नट) आदि को २५० पण, और जो उनमें बढ़िया बाजे आदि भी बनाना जानते हों, उन्हें दुगना अर्थात् ५०० पण दिया जाय। अत्यन्त साधारण कारीगरों को १२० पण दिया जाय। पशु तथा मनुष्यों के परिचारक, गौ आदि की रक्षा करनेवाले और वेगारियों को ६० पण वार्षिक तक दिया जाय।

गुप्तचरों को ५०० से १००० पण तक दिया जाय। गाँव के नौकर (धोबी नाई आदि) और मुखिया आदि को ५०० पण दिया जाय।

स्थायी या अस्थायी राजकर्मचारियों को, उनकी विद्या और कार्य की न्यूनाधिकता के अनुसार, न्यून या अधिक वेतन तथा भत्ता दिया जाय। साठ पण के पीछे एक आढ़क (चार सेर) के हिसाब से अन्न दिया जाय।

वेतन सम्बन्धी कुछ नियम—भारतवर्ष में श्रमजीवी अपने काम और वेतन की शर्तें ठहराने में स्वतंत्र थे। जब कभी कोई ठहराव नहीं होता था तो उन्हें प्रचलित नियम के अनुसार वेतन दिया जाता था। आचार्य कौटल्य के वेतन सम्बन्धी कुछ नियम इस प्रकार हैं:—वेतन लेकर जो नौकर काम न करे, उसे १२ पण दंड दिया जाय, यदि बिना ही कारण काम न करे तो उसे रोक कर रखा जाय। कार्य की निकृष्टता के कारण, अथवा बीमारी में तथा आकस्मिक आपत्ति में ग्रस्त होने के कारण कार्य करने से असमर्थ हुआ नौकर छुट्टी ले सकता है, अथवा अपने कार्य को दूसरे से भी करा सकता है। यदि मालिक थोड़ा सा काम करावे और फिर न करावे तो वह नौकर का किया हुआ समझा जाय।

बढ़ई, लुहार, दर्जी, सुनार आदि संघ बनाकर भी काम करते थे। आचार्य ने लिखा है कि संघ से इकट्ठी नौकरी पानेवाले, अथवा आपस में मिलकर ठेके आदि के द्वारा काम करनेवाले पहले से तय किये हुए के अनुसार या बराबर-बराबर आपस में वेतन बाँट लेवें। अर्थात् यदि इन लोगों का वेतन पहले से कुछ तय नहीं हुआ है तो सब को बराबर-बराबर मिलेगा। किसान फसल के आरम्भ से अन्त तक के साथी को उसके किये हुए काम के अनुसार हिस्सा दे। काम के होते रहते हुए ही यदि कोई तन्दुरुस्त व्यक्ति काम छोड़कर चला जाय तो उसे बारह पण दंड किया जाय।

श्रमियों की स्थिति—यह हिसाब लगाना तो अत्यन्त कठिन है कि उस समय की आर्थिक स्थिति को देखते हुए किस-किस प्रकार

के श्रमियों का वेतन आजकल की अपेक्षा कम या ज्यादह था। हाँ, यह कहा जा सकता है:—

१—देश में बेकारी न थी। भाफ या बिजली आदि से चलनेवाले आधुनिक ढङ्ग के बड़े-बड़े कल-कारखाने न होने से श्रमियों को बहुत स्वतंत्रता प्राप्त थी।

२—श्रमियों की शिक्षा और स्वास्थ्य आदि का, राज्य के भिन्न-भिन्न अध्यक्षों द्वारा एवं विविध संघों की ओर से यथेष्ट प्रबन्ध था।

३—राज्य श्रमजीवियों एवं स्वामियों दोनों के अधिकार और हितों के लिए आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप करता था।

४—श्रमियों को अरामतलबी, विलासिता और फजूल-खर्ची से बचाया जाता था।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य कौटल्य ने समाज के इस प्रधान वर्ग के हित की बहुत सुन्दर व्यवस्था की थी।

इक्कीसवाँ अध्याय

सूद

पूँजीवालों को, उनकी पूँजी के, किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था द्वारा, उपयोग किये जाने की दशा में, मिलनेवाले प्रतिफल को सूद कहते हैं। धन को व्यर्थ अपने पास न पड़े रहने देकर उसे दूसरों को सूद

पर उधार देना जहाँ धनपति के कौशल और साहस को प्रकट करता है, वहाँ अपने धन के अभाव में दूसरे के धन से धनोपार्जन करना सूद पर रुपया लेनेवाले की भी क्षमता सिद्ध करता है। कुछ दशाओं में व्यापार के अतिरिक्त अन्य शारीरिक, सामाजिक या मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी रुपया सूद पर लिया जाता है।

सूद की दर—आचार्य लिखता है कि सौ पण पर एक महीने में सवा पण (अर्थात् पन्द्रह फी सदी सालाना) ब्याज लेना ठीक है। व्यापारी लोगों से पांच फी सदी माहवार, जंगल में रहनेवालों या वहाँ व्यापार करनेवालों से दस फी सदी माहवार, और समुद्र में आने-जानेवाले या वहाँ व्यापार करनेवालों से बीस फी सैकड़ा माहवार व्याज लिया जाना चाहिए। (इससे अधिक सूद लेनेवालों को दंड दिया जाय।)

इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों किसी कार्य में जोखम अधिक हो, कौटल्य उसके लिए सूद की दर अधिक ठहराता है, और यह स्वाभाविक भी है। तथापि सूद की उपर्युक्त दर, आजकल की दृष्टि से बहुत अधिक है; इसमें सन्देह नहीं।

दर ऊँची होने के सम्बन्ध में विचार—कौटल्य तथा अन्य नियम-निर्माताओं द्वारा निर्धारित सूद की दर के ऊँचे होने से कुछ, विशेषतया विदेशी, लेखक यह अनुमान करते हैं कि भारतवर्ष प्राचीनकाल में बहुत दरिद्र था और इसलिए यहाँ सूद पर रुपया देने की प्रवृत्ति न थी। परन्तु इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं:—

१—प्राचीनकाल में उन लोगों का जीवन और धन रक्षित नहीं समझा जाता था, जिन्हें व्यापार के लिए देश विदेश अथवा जंगलों में घूमना पड़ता था।

२—उस समय अधिकतर कार्य छोटी पूँजी से अथवा कई व्यक्तियों की सम्मिलित बड़ी पूँजी से चल जाता था। जिसके पास साधारण पूँजी भी नहीं होती थी और जो सम्मिलित पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकते थे, उनकी साख कम समझी जाती थी।

३—उस समय किसी को उधार देने की अपेक्षा दान के रूप में रुपये अन्न या वस्त्र आदि की सहायता करना अच्छा समझा जाता था।

४—कई सामाजिक प्रथाओं * के कारण गृहस्थों को विवाह-शादी आदि अवसर पर, अपने सम्बन्धियों और इष्ट मित्रों से सहायता, अथवा कालान्तर में वापिस किये जानेवाले धन, के रूप में यथेष्ट रकम मिल जाती थी।

५—भारतीय नीतिकारों ने ऋण लेने की निन्दा की है, ऋण-कर्त्ता पिता को सन्तान का शत्रु कहा है। इससे सर्वसाधारण में ऋण लेने की प्रवृत्ति कम रही है। उनका जीवन संतोषी रहा है। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' को यहाँ सद्गृहस्थों ने मान्य नहीं किया। प्रायः अपनी आय में ही अपना निर्वाह करने की प्रवृत्ति रही।

---

* इनके अवशिष्ट चिन्ह नौता, भात, दहेज, छूछक आदि इस समय भी प्रचलित हैं।

ऋणग्रस्तों की रक्षा--आचार्य ने ऋणग्रस्तों की रक्षा का यथेष्ट ध्यान रखा है। इस सम्बन्ध में उसके मुख्य-मुख्य नियम दिये जाते हैं:—

अनेक व्यक्तियों के ऋणी अधमर्ण पर कई उत्तमर्ण (साहूकार) अपने-अपने ऋण का एक ही साथ अभियोग नहीं चला सकते। [यदि अधमर्ण कहीं विदेश को जा रहा हो तो उस पर एक साथ मुकदमा चल सकता है।]

कार्य करने के समय में किसान और राजकर्मचारियों को ऋण के लिए गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता।

पति के लिये हुए ऋण के सम्बन्ध में स्त्री पर उस दशा में दबाव नहीं डाला जा सकता, जबकि वह उसको चुकाना मंजूर नहीं करती। अर्थात्, यदि वह स्वयं देना चाहे तब ही उस से पति के ऋण का रुपया लिया जा सकता है, अन्यथा नहीं। [ग्वाले और इसीप्रकार के अन्य पुरुषों के लिए यह नियम नहीं है, जिन की स्त्रियाँ उनकी जीविका में सहायक होती हैं।]

बहुत काल तक यज्ञ में घिरे हुए, व्याधिग्रस्त, तथा गुरुकुल में अध्ययन करते हुए, एवं बालक या शक्तिहीन पुरुष पर जो ऋण हो, उस पर व्याज नहीं लगाया जा सकता।

व्याज पूरा न होने पर, पहले ही व्याज लेने के लिए जो साहूकार अधमर्ण को तंग करे, अथवा व्याज को मूलधन में जोड़कर मूलधन के नाम से ही उतना रुपया मांगे, उसे मांगे हुए धन का चौगुना दंड होना चाहिए।

उधार देनेवालों के सम्बन्ध में विचार—कौटल्य ने इस बात का भी यथेष्ट ध्यान रखा कि यथासम्भव उधार देनेवालों का रुपया, विशेषतया जब कि वे बहुत धनी या समर्थ न हों, डूबने न पाये। इस-लिए जहाँ वह यह लिखता है कि "यदि कोई उत्तमर्ण (उधार देने वाला) दस वर्ष के भीतर अपना ऋण वसूल नहीं कर लेता तो फिर उसके ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं रहता", वहाँ यह भी कहता है कि "परन्तु यदि वह धन बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त, विदेश में गये हुए, देश-त्यागी, या राजकीय गड़बड़ में पड़े हुए साहूकारों का हो तो वे दस वर्ष के बाद भी उसे प्राप्त करने के अधिकारी रहते हैं।" इसी प्रकार आचार्य ने यह भी आदेश किया है कि, मृत अधमर्ण (उधार लेनेवाले) के (बालिग़) पुत्र उसके ऋण को चुकावें, अथवा उसकी स्थायी सम्पत्ति को लेनेवाले दायभागी, या साथ-साथ काम करनेवाले उस के ज़ामिन हिस्सेदार उसको चुकावें।

अर्थशास्त्र में ऋण देनेलेने के सम्बन्ध में बहुत से नियम बतलाये गये हैं। यह स्पष्ट है कि उस समय रुपया उधार लेने की प्रथा प्रचलित थी, और कौटल्य ने इसके विवेचन को महत्वपूर्ण समझा है।

बाईसवाँ अध्याय

मुनाफा

पहले बताया जा चुका है कि उत्पादन सम्बन्धी प्रबन्ध और साहस को अर्थशास्त्र में व्यवस्था कहते हैं। उसका प्रतिफल मुनाफा होता है।

मुनाफा या लाभ वह अन्तर है जो किसी वस्तु की कीमत में तथा उसकी लागत (अर्थात् उस वस्तु की उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त भूमि, श्रम और मूलधन के प्रतिफलों के योग) में होता है।

मुनाफे का अनुमान—व्यापार में, विशेषतया विदेश जाकर व्यापार करने में, लाभ का अनुमान करने के लिए आचार्य ने कई बातों की ओर ध्यान दिलाया है। उसने लिखा है कि अपने देश के तथा परदेश के पण्य द्रव्यों के न्यून, अधिक तथा समान मूल्य को, और उन के 'पैक' करने (पार्सल या गाँठ तैयार करने) के व्यय को अच्छी तरह जान कर शुल्क, वर्तनीदेय (सड़क का महसूल), अतिवाहिकादेय ('बहती' अर्थात् एक सीमा से दूसरी सीमा में माल निकलवाने का खर्च), गुल्मदेय (रास्ते के रक्षक का देय अंश), तरदेय (नदी आदि पार कराने वाले नाविक का देय अंश),❀ भक्त (भोजन का व्यय) तथा भाटक (भाड़ा) आदि सब खर्चों को निकालकर शुद्ध आमदनी देखी जानी चाहिए। उपर्युक्त खर्चों में एक प्रकार से वह रकम भी शामिल है, जिसके उपलक्ष्य में, चोरी आदि से माल नष्ट होने पर, क्षति-पूर्ति हो सकती है और जिसे आजकल की व्यापारिक भाषा में 'बीमा-खर्च' कहा जा सकता है।

❀ कौटल्य का मत है कि यदि मार्ग में अधिक से अधिक अनुमानित लाभ का चौथायी भाग खर्च करने से काम चल जाय तो स्थल-मार्ग से विदेशी व्यापार किया जाय। जलमार्ग से व्यापार करना, अधिक बचत होने की दशा में ही, आचार्य को स्वीकार है।

कौटल्य का उपर्युक्त विवेचन संक्षिप्त होते हुए भी, यह स्पष्ट है कि आचार्य आवश्यक बातो का उल्लेख करना नहीं भूलता।

लाभ की दर—वर्तमान भौतिकवाद के युग में अधिक-से-अधिक मुनाफा उठाना व्यवसाय-कुशलता का लक्षण समझा जाता है, और इसके लिए समाज या राज्य की ओर से बहुत कम नियंत्रण होता है। कौटल्य को यह बात पसन्द नहीं थी। वह व्यापार का उद्देश्य धनोपार्जन करना नहीं, सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना, समझता था। उसके विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या अमर्यादित मुनाफा लेना और धनपति होजाना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिए उसने ऐसे व्यवसायियों को 'चोर न कहे जानेवाले चोर' कहा है। आचार्य तैयार वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ साधारणतः उनकी लागत का पाँच प्रति सैकड़ा निश्चित करता है। कुछ दशाओं में, विशेषतया विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में वह इसका परिमाण दस प्रति सैकड़ा तक उचित समझता है।

मुनाफे का नियंत्रण—व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिए कौटल्य कई नियम निर्धारित करता है। उदाहरणवत उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुँगी वसूल करने के लिए पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की कीमत निश्चित होजाय। यह कीमत व्यापारी गुप्त न रखे, वह इसकी घोषणा न करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नहीं सकता।

तेईसवाँ अध्याय

धन-वितरण और समाज

कौटल्य के धन-वितरण-सम्बन्धी विचारों पर पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है। इस अध्याय में हम यह विचार करना चाहते हैं कि उस समय धन-वितरण की दृष्टि से समाज की क्या स्थिति थी, और आचार्य के नियमों का क्या प्रभाव पड़ा था।

धन-वितरण; आधुनिक असमाता—धन-वितरण का प्रश्न समाज के लिए बड़े महत्व का है; इस पर ही समाज की बहुत-कुछ सुख-शान्ति निर्भर होती है। आजकल भिन्न-भिन्न देशों में जो आन्तरिक कलह या अशान्ति का साम्राज्य है उसका एक मुख्य कारण धन-वितरण की असमानता है। धनवान देशों में प्रायः थोड़ेसे आदमी बेहद धनिक हैं, असंख्य जनता तो जीवन-निर्वाह के साधारण साधनों से भी वंचित है। कृषि-प्रधान स्थानों में दरिद्र, रोग-ग्रस्त किसानों और लोभी ज़मींदारों के झगड़े नित्य की घटनाएँ हैं। औद्योगिक केन्द्रों में मजदूरों और पूँजीपतियों का संघर्ष अधिकाधिक विकराल रूप धारण करता जाता है। मशीनों ने बेकारी बहुत बढ़ा दी है, उधर कारखानों के मालिक श्रमजीवियों को कम-से-कम मजदूरी देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहते हैं, वे उनके स्वास्थ्यादि का भी ठीक प्रबन्ध नहीं करते। मजदूर देखते हैं कि जहाँ हमें प्रतिदिन पाँच-सात

आने या साल में सौ डेढ़ सौ-रुपये मिलते हैं, पूँजीपति को इससे सैकड़ों गुना लाभ या बचत रहती है, वह अधिकाधिक धनवान होता जाता है और हम दिन-पर-दिन अधिक ऋण-ग्रस्त और संकटापन्न होते जाते हैं। वे राज्य का ध्यान इस ओर दिलाने की चेष्टा करते हैं और समुचित व्यवस्था न होने पर, असन्तुष्ट होकर संगठित आन्दोलन तथा व्यापक हड़ताल करते हैं। अथवा, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पूँजीपति यह समझता है कि मजदूर अब जितनी मजदूरी माँगते हैं, वह बहुत अधिक है, उन्हें पहले की मजदूरी पर कार्य करने को बाध्य करने के वास्ते वह कारखाने का 'द्वारावरोध' करता है। ऐसी बातों से, बहुतसे देशों की कुल धन राशी काफी बढ़ी-चढ़ी होते हुए भी सर्वसाधारण की सुख-शान्ति प्रायः दुर्लभ हो रही है। इस परिस्थिति के मुख्य दो कारण हैं, (१) व्यापार की आधार-शिला पूँजीवाद होना, और (२) गृह-शिल्प या गृह-उद्योग का क्रमशः नष्ट होजाना, और मशीनरी का बाहुल्य।

प्राचीन व्यवस्था; पूँजीवाद का अभाव— प्राचीन भारत में ऐसा न था। देश धन-धान्यपूर्ण होने पर भी, आजकल के धन-सम्पन्न राष्ट्रों को सतानेवाले संकटों से मुक्त था। इसका एक मुख्य कारण यह था कि उस समय पूँजीवाद का अभाव था, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करनेवाले कल-कारखाने नहीं थे। गृह-शिल्प का खूब प्रचार था। कौटल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय भी भिन्न-भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुतसे आदमियों के मिलकर काम करने की व्यवस्था थी, परन्तु वहाँ उनके पास अपने-अपने औजार होते थे, सब

अपने काम के स्वयं निरीक्षक होते थे। सब अपने-अपने काम का प्रतिफल अपनी योग्यता के अनुसार पाते थे। काम करनेवाले व्यक्ति श्रमजीवी होने के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपति भी होते थे। हाँ, राज्य के कारखानों में मजदूर माल तैयार करके राज्याधिकारियों के हवाले करते थे, परन्तु उन्हें भी अपने भरण-पोषण की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। उनके भोजनादि का सामान राज्य से मिलता था। आचार्य ने प्रत्येक श्रमजीवी के लिए कुछ नकद वेतन के अतिरिक्त निश्चित परिमाण में 'भक्तान्न' या भत्ते की व्यवस्था की है। उसने मुनाफे की दर निर्धारित करके व्यापार द्वारा (अधिक मुनाफा प्राप्त करने की दशा में) समाज में होनेवाली धन-वितरण की असमानता को भी रोक दिया था।

समानता का भाव—प्राचीन काल में यदि कोई व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक धनवान होता तो वह अपना धन समाज के हितार्थ ही तो खर्च करता था, सर्वसाधारण के वास्ते शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य सुविधाओं के लिए भी विविध प्रकार के आयोजन करता था। जब धनवानों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या ऐश्वर्य के लिए धन संचित करने की तृष्णा न हो, जब वे गुरुकुलों में अन्न आदि भिजवावें, तीर्थों में सदावर्त्त खोलें, स्थान-स्थान पर कुएँ अतिथिशाला या धर्मशाला आदि बनवाएँ, सर्दी की ऋतु में कम्बल और रजाई आदि बंटवाएँ और सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए सर्वसाधारण से मिलने-जुलने में संकोच न करें, तो किसी को उनसे ईर्षा क्यों हो! यह कहावत कि 'घी गिरा तो चावलों में ही तो गया' उस समय पूर्णतः

चरितार्थ होती थी। सर्वसाधारण को संतोष रहता था कि धनवानों के पास गया हुआ धन आखिर हम सब ही के काम आता है।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकार की बातें लोगों की स्वेच्छा से ही होती रहती थीं, उस समय के नियम भी जनता को इस विषय में सावधान रहने की प्रेरणा करते थे। कौटल्य ने 'नागरिक' अर्थात् नगराधिकारी के कार्यों के प्रसंग में लिखा है कि "जो पुरुष अत्यधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो, उसकी सूचना 'गोप' अथवा स्थानिक अधिकारी को दी जाय।" इससे स्पष्ट है कि लोगों के अपने स्वार्थ, ऐश्वर्य या भोग-विलास आदि में अधिक धन व्यय करने को कौटल्य नियंत्रण-योग्य मानता है।

प्राचीन संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था—प्राचीन संस्कृति भी ऐसी थी कि वह धन के असमान वितरण को कष्टप्रद नहीं होने देती थी। उस समय धन की विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी; प्रतिष्ठा थी, गुणों की। हर एक आदमी रुपये पैसों के पीछे नहीं दौड़ता था, धन के लिए जुआ, सट्टा-फाटका, या छल-कपट आदि नहीं करता था। इसका एक कारण यहाँ की प्रचलित वर्ण-व्यवस्था थी, जिसका कौटल्य ने भी समर्थन ही किया है। तदनुसार समाज का सर्वोपरि अंग निस्पृह विद्वान (ब्राह्मण) था, जो निर्धनता का जीवन बिताते हुए भी राजदरबार तक में सम्मानित था। यही नहीं, वह अपने परामर्श से राजकार्य का संचालन कराता था। ब्राह्मणों से नीचे, दूसरा दर्जा क्षत्रियों का था, ये भी आदर-मान के अधिकारी देश-रक्षा के महत्वपूर्ण कार्य में योग देने के कारण, होते थे, धन के कारण नहीं। जो वैश्य वर्ग प्रायः धनवान

होता था, उसका प्राचीन समाज में प्रथम नहीं, द्वितीय भी नहीं, तीसरा दर्जा था। फिर जब वैश्य अपने उत्पन्न धन का उपयोग सर्वसाधारण के हितार्थ करते रहते थे, तो किसी को इनके धन से डाह होना अस्वाभाविक ही था। शूद्र शारीरिक परिश्रम से अपना निर्वाह किया करते थे, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उस समय श्रमजीवियों को आजकल की तरह भोजन-वस्त्र का अभाव नहीं रहता था, कौटल्य ने भक्तान्न, की व्यवस्था करके उन्हें इस विषय में निश्चिन्त कर रखा था।

इस प्रकार कौटल्य के समय में, तथा उसके नियमों के अनुसार, देश में गृह-शिल्प का काफी प्रचार था, पूँजीवाद का अभाव था, धनवानों की अपने अन्य बन्धुओं के प्रति यथेष्ट सहानुभूति थी, तथा ऐसी संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था थी जिसमें धनहीन व्यक्ति भी अपने गुणों के कारण यथेष्ट मान-प्रतिष्ठा पाते थे। धन का वितरण बहुत कुछ समान था, और जो थोड़ी-बहुत असमानता थी, वह लोगों में असन्तोष पैदा करनेवाली या उन्हें कष्ट देने वाली नहीं होती थी। सर्वसाधारण का जीवन शान्तिमय था। प्रत्येक को शारीरिक, मानसिक वृत्तियों के विकास का यथेष्ट अवसर था। देश आजकल की सर्वव्यापी बेकारी, दरिद्रता या चिन्ता से मुक्त था। आवश्यकता है, हमारे अर्थशास्त्री फिर इस देश को वैसी आर्थिक स्थिति प्राप्त कराने का प्रयत्न करें। इस विषय में कौटल्य के आर्थिक विचारों से उन्हें बहुत सहायता मिल सकती है।